भारतीय ग्रन्थ माला; संख्या ४,

भावना

—:—:—

लेखक—

स्वामी आनन्द भिक्षु सरस्वती

मन्त्री

सन्यासी मण्डल, वृन्दावन
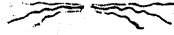
प्रकाशक—

भगवानदास केला

व्यवस्थापक, भारतीय ग्रन्थ माला; वृन्दावन

प्रथम संस्करण
१००० प्रतियां

सन् १९२८ ई०

मूल्य
चौदह आने

समर्पण

माँ !

बहुत दिनों की स्मृतियां आज प्रलयगायन के रूप में, मेरे उद्भ्रान्त जीवन में नाच रही हैं। इस अव्यवस्थित अवस्था में तुम्हें यह 'भावना'-तुम्हारी ही निर्माण-कला—तुम्हारी ही सृष्टि—तुम्हें किस भाँति समर्पित करूँ ? माँ ! माँ······ माँ·······तुम अलख होकर भी आज किस भाँति देख पड़ती हो········ इतनी शान्त होते हुए, इतनी उग्र कैसे हो गई हो ? यह प्रवाह तो मुझे बेसुध कर देगा। माँ········इस झंझावात में तो मेरा सारा जीवन विमूढ हो गया और मेरी सारी चेतनता विक्षिप्त हो जावेगी। फिर समर्पित कैसे कर सकूंगा, माँ ?

तुम्हारा

बच्चा

निवेदन

अपनी विविध विफलताओं और क्षुद्र सफलताओं के विचित्र संग्राम में, हम इसे एक अच्छी सफलता समझते हैं कि गत ५/६ वर्षों के आग्रह के पश्चात्, तथा अनेक बार बिल्कुल निराश हो जाने पर भी, अन्ततः हम इस पुस्तक को हिन्दी संसार की सेवा में उपस्थित होते हुए देख सके। अपनी अस्वस्थता, कुटुम्ब वालों की बीमारी, आर्थिक चिन्ता तथा विविध विघ्नों के होते हुए किसी रचना कार्य को करना कितना कठिन है, इस का हमने समय-समय पर अनुभव किया है, परन्तु फिर भी जब मौक़ा मिलता है, जिस से मन खुल जाता है, जिस में हमें कुछ सम्भावनायें मालूम होती हैं, उन्हें साहित्य कार्य में लगाने के लिए जी उमड़ ही आता है। हम भूल जाते हैं, कि उन्हें क्या क्या कठिनाइयां होंगी।

× × ×

सहृदय श्री० स्वामी आनन्द भिक्षु जी सरस्वती क्या जानते होंगे, कि हम से समय-समय पर सहानुभूति दर्शा कर वे क्या बला मोल ले रहे हैं। हमें याद है कि प्रेम महाविद्यालय के साप्ताहिक पत्र 'प्रेम' के सम्पादन के समय, हम ने उनसे आरम्भ में लेख लिखने के लिए निवेदन किया, तो बहुत विनय-पूर्वक किया था। श्री० स्वामी जी विशेषतया उर्दू के

लेखक थे, तथापि हमारा निवेदन स्वीकार करते रहे और फलतः हमारा साहस बढ़ाते रहे। फिर तो, कुछ समय बीतने पर, आवश्यकतानुसार उन से लेख माँगने का हमने अपना स्वाभाविक अधिकार ही समझ लिया। पीछे हमारा सम्बन्ध 'प्रेम' से न रहा, पर स्वामी जी पर हमारा यथा पूर्व अधिकार बना ही रहा; अपने अधिकार को कोई सहज ही क्यों छोड़े?

× × ×

लेखों की हमें आवश्यकता न रही, तो न सही; भारतीय ग्रन्थ माला सम्बन्धी आवश्यकतायें तो बनी ही थीं, अब वे और भी बढ़ गयी थीं; हमने सोचा, श्री० स्वामी जी से उसी का कुछ काम लेते रहना चाहिए। वे और बहुत से काम करते हैं, उन्हें अवकाश नहीं होता, पर इससे हमें क्या मतलब? हमारा काम करें, तभी हम समझें, कि उन्हों ने कुछ काम किया। भारतीय ग्रन्थ समिति के सभापतित्व का भार उन पर पड़ ही चुका था, अवसर पाकर हमने उन से माला के लिए एक अच्छी आदर्श पुस्तक लिखने को कह दिया। अपने सुकोमल स्वभाव-वश उन से इनकार करते न बना। हमारी बन आयी। क्रमशः हमने तक़ाज़ा शुरू कर दिया। पीछे हमने देखा कि उन की सहधर्मिणी, वृन्दावन में 'माता जी' के नाम से प्रसिद्ध, चिरस्मरणीया कुन्ती देवी जी का स्वर्गवास होगया, स्वयं स्वामी जी का भी स्वास्थ्य प्रायः अच्छा नहीं रहता। पर 'स्वार्थी दोषो न पश्यति।' उन्हों ने सन्यास ले लिया, परन्तु उधार लिये हुए धन से

सन्यासी का भी पिंड नहीं छूट सकता। हमने उन को कुछ ऋण नहीं दिया था। परन्तु इससे क्या? जब उन्हों ने इतने समय तक इसे स्पष्ट रूप से अस्वीकार नहीं किया, तो वह हमारे दिये के ही बराबर है। ज्यों-ज्यों उनके इसे चुकाने में देरी हुई, हमारा स्वर कुछ तीखा हो चला, हम बार-बार उलाहना देने लगे। वे भी बड़े चक्कर में पड़े। काम कैसे निपटे, बात कैसे बने? सर्व शक्तिमान ही पेचीदा उलझनों को सुलझाता है।

× × ×

परिस्थिति ने हमें प्रेम महाविद्यालय के बंधन से मुक्त करके, ग्रन्थ माला के आश्रित कर दिया। बीमारी ने स्वामी जी के अन्य बंधनों को हटा कर, उन्हें एकान्तवास करने को वाध्य कर दिया। ग्रन्थ माला की चिन्ता ने उन के हृदय पर अधिकार पा लिया। रोग-शय्या पर पड़े हुए उन्हें स्वतंत्र चिन्तवन करने का अवसर मिल गया। पीछे ज्यों ज्यों उन के स्वास्थ्य ने अनुमति दी, वे अपने थोड़े थोड़े विचार लेख-बद्ध करने लगे। अन्ततः धीरे धीरे वे अच्छे हो गए और पुस्तक तैयार होगयी।

× × ×

यह पुस्तक कैसी है, इस का उद्देश्य क्या है, इसे लिखने के लिए एक सन्यासी ने क्यों इतना कष्ट उठाया है, इस में वर्णित विचारों का ध्येय क्या है? इन विषयों पर हम क्या कहें? कहना कुछ कठिन भी है। आख़िर, यह एक भावुक हृदय की भावना ही ठहरी। संसार भावनामय है, या भावना-रूप

है। जिस की जैसी भावना होगी, वह इस 'भावना' को भी उसी दृष्टि से देखेगा। हमें संतोष है कि पिछले दिनों में हमने श्री० स्वामी जी के साथ, जब साहित्यिक यात्रा की और काशी, प्रयाग आदि के कई सुप्रसिद्ध लेखकों और प्रतिष्ठित विद्वानों ने इस पुस्तक के कुछ अंश देखे, तो उन्होंने इसे बहुत पसन्द किया।

× × ×

पाठकों को एक चेतावनी देने की धृष्टता के लिए हम क्षमा चाहते हैं। इस के विषयों का शीर्षक निश्चित करने में, अथवा शीर्षकों के अनुसार विषय लिखने में, विचारवान लेखक ने कुछ अनूठी स्वतंत्रता से काम लिया है। अतः जो पाठक जल्दी में, केवल विषय सूची को ही देख कर इस पुस्तक के सम्बन्ध में अपना निर्णय देना चाहेंगे, उन का अनुमान बहुत कुछ भ्रम-पूर्ण हो सकता है। ठीक मत प्रकट करने के लिए, सब नहीं, तो कुछ लेखों को पढ़ लेना आवश्यक है। आशा है कि इस पुस्तक के स्वाध्याय से तत्वान्वेषी पाठकों को अपना हृदय टटोलने की, अपने जीवन को धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यिक आदि विविध क्षेत्रों, में अधिक शुद्ध सात्विक बनाने की, तथा भारत और भारतीयता के लिए ही नहीं, मनुष्य जाति और विश्व बन्धुत्व के लिए भी, कुछ अधिक अभिमान की वस्तु बनने की सामग्री मिलेगी।

भरतीय ग्रन्थ माला
वृन्दावन

विनीत
भगवानदास केला

प्रस्तावना

संसार एक नाट्य शाला है—अद्भुत और विचित्र नाट्य शाला है। इसका स्टेज बड़ा सुन्दर और अनोखा है। इस में हर एक को अपना-अपना पार्ट खेलना पड़ता है—वह पार्ट चाहे राजा का हो या रङ्क का, सिपाही का हो या सिपहसालार का, शाहज़ादी का हो या भिखारिन का, सब को स्टेज पर आना ही पड़ता है। यह आना-जाना ज़रूरी है; पर यह ज़रूरी नहीं है कि जो जिस प्रकार आए, उसी प्रकार वापस भी चला जाए। आने-जाने में बड़ा अन्तर—आकाश पाताल; द्यौ और पृथ्वी का अन्तर—होता और हो सकता है; और यही यहाँ पर एक मार्के और देखने की बात होती है। हमारे खेल की सफलता–हमारी कला की सुन्दरता की परीक्षा–इस बात पर निर्भर नहीं है कि हम किस आन-बान से मञ्च पर आते हैं, बल्कि इस बात पर निर्भर है कि हम वहाँ से किस शान से जाते हैं; कैसी विदा लेते हैं! एक कामयाब और ना-कामयाब खिलाड़ी की यही पहचान है।

मैं सफल हूँ या असफल हूँ; इसके बतलाने का अभी समय नहीं है, पर हाँ, जो भी हूं; जैसा भी हूं और जिस मार्ग पर हूं, उसके लिए मुझे दुख नहीं; सोच नहीं, अपितु सन्तोष

और उत्साह है। अर्थवाद और नास्तिकता के प्रचण्ड प्रवाह में मैं कई बार बहा-डूबा, परन्तु फिर उभरा और निकल आया; कभी घबराया और अशान्त हुआ, पर पथ-भ्रष्ट नहीं हुआ। क्यों? अपनी योग्यता और निपुणता से? नहीं; केवल उन भारतीय आदर्शों और भारतीय भावनाओं के पुण्य प्रताप से जिन में सत्य, एकान्त सत्य पर मर-मिटने वाले वीरों की पूजा होती है—वह वीर चाहे विजय के वीर हों या पराजय के, यह देखा नहीं जाता।

× × ×

भारतीय ग्रन्थ माला अपनी तरह की एक अनूठी उड़ान है। इसके सञ्चालक न कुछ होते हुए भी, इसके सम्बन्ध में, आदर्श ऊँचा रखने में किसी से कम नहीं रहना चाहते। इस की कठिनाइयाँ और आपत्तियाँ अभी हिन्दी संसार को जानने का अवसर नहीं मिला है, और शायद कुछ थोड़े से निकटस्थ मित्रों को छोड़कर, सर्व साधारण को, इन्हें जानने का अवसर कभीभी न आए। अच्छा है, किसी की टेक निभ जाए—भगवान निभा दे। अस्तु—

श्री० केला जी ने मुझे इस ग्रन्थ माला के लिए कुछ लिखने को कहा। क्यों कहा? यह वे जानें। पर मैं तो अपनी जानता हूं, अपनी कहता हूं। मैं पढ़ता हूँ. लिखता हूं, बोलता हूँ—सब कुछ थोड़ा-बहुत करता ही रहता हूँ; परन्तु होता कुछ नहीं, होता दीखता भी कुछ नहीं, और मैं दिखाने

का चाव और भाव भी नहीं रखता। क्यों? सब कुछ और कुछ नहीं, कुछ नहीं और सब कुछ, यह सब-कुछ करने-धरने; देखने-दिखाने पर निर्भर है, आदमी के स्वभाव और रुचि पर मुनहसर है। मुझ से यह कभी न हुआ और अब शायद होगा भी नहीं। यह किसी ख़ास आदमी का ही काम होता है, हर एक के बस की बात नहीं। मैं जन्म भर लिखता रहा—बहुत लिखता रहा, पर क्या-क्या लिखता रहा, कहां-कहां लिखता रहा, किस नाम और किस रूप में लिखता रहा, इस की औरों को क्या ख़बर होगी, मैं खुद ही नहीं जानता—नहीं जना सकता। ऐसी दशा में, ऐसे व्यक्ति से, कुछ नियमित रूप से लिखना या लिखाना सहज बात नहीं थी। यह काम मेरी बिखरी हुई मानसिक शक्तियों को एकत्रित करके, उनके उपयोग करने का काम–श्री० केला जी,जैसे धन,के धनी से ही कुछ हो सकता था और हुआ भी। उन्हों ने जिस प्रकार घेर-घार कर, पकड़-धकड़ कर मुझ जैसे निकम्मे आदमी और रमते राम से यह काम करा लिया है, वह मैं ही जानता हूँ। अब इस से, जिसका जो भी मनोरञ्जन हो, इसका श्रेय उन्हीं को है। धरे-बाँधे काम करने वाले का दावा ही क्या—हक़ ही क्या—हो सकता है? हाँ स्वतः मुझे—इस रचना के लेखक को—जो लाभ और आनन्द मिला है, उसके लिए केला जी को धन्यवाद।

× × ×

यह पुस्तक कैसी है? इस में क्या और किस ढङ्ग से लिखा गया है, इस विषय में मैं यहाँ पर कुछ न कहूँगा। पर हाँ,

इतना मैं अवश्य कह देना चाहता हूँ कि इस में उस भारतीय हृदय की कुछ भावनाएं हैं, जो चतुर और समझदार दुनियाँ के सामने कभी 'पागल' था और अब भी शायद कुछ-कुछ बना हुआ है। परन्तु उसे अपने इस 'पागलपने' पर तब भी गर्व था और अब भी गर्व है। वह अपने राम को—वियोगी और व्यथित राम को—मानता है। वह उस राम को नहीं मानता, जिसने रावण को मारा और जिसकी पुण्य स्मृति में–विजय के स्मारक में–दुनिया प्रति वर्ष उत्सव मनाती है, बल्कि उस राम को, जो सीता के विरह–दुख में–खोज में, बन–बन में भटका, मारा–मारा फिरा, पर किं, कर्तव्य विमूढ़ न हुआ। और उसने वहीं–उसी बन में, उसी बेबसी में, वहीं की जैसी तैसी सामग्री को एकत्रित करके–अपने अपूर्व बल-पौरुष, प्रचण्ड तेज, और असाधारण योग्यता का परिचय दिया। हाँ वह–पागल–महाभारत के विजयी पाण्डवों का भी सम्मान नहीं करता, बल्कि उनका अज्ञातवास में दुख–सुख उठाकर अपने धर्म–कठोर धर्म-की मर्यादा निभाने वाले पाण्डवों का सम्मान करता है। जय और पराजय उस पागल के लिए कोई महत्वपूर्ण वस्तु नहीं है। वह सिर्फ मनुष्य का हृदय और कर्तव्यपरायणता को ही देखता है। जय और प्रभुता का तेज आँखों को चकाचौन्ध कर देता है और मनुष्य का असली रूप छिप जाता है। असली रूप देखने के लिए पराजय का समय, विपत्ति की घड़ी, क्रोध का अवसर आदि प्रतिकूल परिस्थिति ही कुछ अधिक सुन्दर और

उपयोगी होती है। प्रायः जय और सफलता के पश्चात् व्यक्तियों के दिव्य गुणों का ह्रास, और पराजय तथा विफलता के बाद उनका विकास होने लगता है।

इस पुस्तक में कुछ ऐसी ही बातों पर प्रकाश डालने की कोशिश की गई है—कुछ विचार दिए गए हैं। इन विचारों में पूर्णता नहीं, नवीनता नहीं, हां न्यूनता भले ही हो, परन्तु फिर भी ज़िन्हें 'मजज़ूब की बड़ में'—'उन्मादी के प्रलाप में' कुछ न कुछ तत्व निकालने, समझने, और आनन्द लेने का अभ्यास है, उन्हें तो कुछ कहना ही नहीं है। वे तो कहीं-कहीं पर झूमने लगेंगे, परन्तु साधारण सुहृद पाठकों—मनचले नवयुवकों—के पल्ले कुछ न पड़ेगा, सो न होगा। भारतीय भावनाओं से भारतीय हृदय का मनोरञ्जन न हो—कल्याण न हो, क्या माने। होगा! अवश्य होगा!! भारतीय भावनाएँ तो सम्पूर्ण विश्व के लिए सुख-प्रद हैं।

× × ×

कुछ लोगों को पुस्तक का केवल विचार-प्रकार, रङ्ग-ढङ्ग, ही विचित्र नहीं मालूम होगा, बल्कि वे इसकी भूमिका इसके 'दो शब्द' इसके प्राक् और पश्चात् कथन भी देख कर हैरान होंगे। परन्तु सच तो यह है, कि वे ही नहीं, मैं भी स्वयं अपने स्थान में कम हैरान नहीं हूँ। क्यों? एक तुच्छ रचना, और उस में ऐसे-ऐसे प्रकाण्ड विद्वानों का सहयोग!! क्या, कोई साधारण बात है? मैं किस-किस को, क्या-क्या किस-किस प्रकार से

कुछ कहूँ-सुनूँ—धन्यवाद दूं। एक-दो नहीं, किसका-किसका नाम लूं। भाई बाबूराव विष्णु पराड़कर—सम्पादक 'आज', चि० नन्दकिशोर तिवारी बी० ए०—सम्पादक सुधा, प्रभृति अनेक विद्वानों का प्रेम-परामर्श क्या कोई मामूली, और कभी भूल जाने वाली बात है? पूज्यपाद महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज, मित्रवर श्री० पण्डित घासीराम जी, श्री० पण्डित लक्ष्मीधर जी बाजपेयी, श्री० प्रो० पण्डित चतुरसेन जी शास्त्री का सुन्दर सहयोग क्या मेरे लिए कुछ कम गौरव की बात है? निर्धन की सूनी कुटिया में यह वैभव देख कर मैं चकित हूं—चौंधिया गया हूँ। कुछ कहते-सुनते नहीं बनता।

'महारथी' प्रेस में, मैं लग-भग डेढ़-दो महीने रहा--कुछ दिनों,--शायद १५-२० रोज़ तक--बीमार भी रहा। इस अवसर पर जैसी मेरी सेवा-सुश्रूषा हुई, वह शायद मेरे अपने स्थान पर भी सम्भव न थी। प्रियवर रामचन्द्र जी शर्मा बी० ए० के अतिरिक्त, पुत्री चन्द्र देवी तथा श्री० नन्दकिशोर जी तिवारी की सती-साध्वी सहधर्मिणी, की निष्काम सेवाओं का उल्लेख करना व्यर्थ है। परमात्मन्! ऐसा भाव प्रत्येक भारतीय हृदय में जागृत हो!

—आनन्द भिक्षु सरस्वती

प्राक्कथन

कौटिल्य के अर्थ शास्त्र के अन्त में, कुछ सूत्र, जिन्हें उसके अर्थ शास्त्र का निचोड़ कहना चाहिए, दिए गए हैं; उन में से प्रथम के चार सूत्र ये हैं—(१) सुखस्य मूलं धर्मः (२) धर्मस्य मूलं अर्थः (३) अर्थस्य मूलं राज्यम् (४) राज्यमूलमिन्द्रिय जयः; अर्थात् सुख प्राप्ति के लिए धर्माचरण की ज़रुरत है, और धर्म के लिए धन की। धन प्राप्ति के लिए राज्य अपेक्षित है। राज्य किस प्रकार प्राप्त हो, उसका उत्तर चौथे सूत्र में दिया है, और वह यह है कि मनुष्य को अपनी इन्द्रियों पर अधिकार करना चाहिए। स्पष्ट है कि २२०० वर्ष पहले चाणक्य जैसे राजनीतिज्ञ ने समझा था कि धर्म, अर्थ और राज्य इन सब की प्राप्ति का कारण इन्द्रिय-विजय है। इन्द्रिय-विजय का ही दूसरा नाम चरित्र-गठन या चरित्र-निर्माण है। चरित्र यथार्थ ज्ञान और तदनुकूल आचरण से बना करता है।

देशवासियों विशेषकर नवयुवक और नवयुवतियों को यथार्थ ज्ञान प्राप्ति में कुछ सहायता मिले, इसी उद्देश की पूर्ति को लक्ष्य में रख कर पुस्तक के रचयिता श्री० आनन्द भिक्षु जी ने इस पुस्तक की—जिसका नाम उचित रीति से 'भावना' रखा गया है, रचना की है। पुस्तक में ४० विषयों पर, लेखक ने

प्रकाश डालने का सफलता-पूर्वक यत्न किया है। विवेक, बलिदान, सौन्दर्य्य, पूजा, नास्तिकता आदि सभी विषय उपयोगी हैं। स्वाध्याय-शील पाठक इन विषयों पर लिखे हुए, लेखक के संक्षिप्त निबन्धों का स्वाध्याय करके लाभ उठा सकते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है, "संकल्पमयो अयं पुरुषः।" अर्थात् मनुष्य संकल्प (भावना) मय है। उसके जैसे विचार होते हैं, वैसा ही वह बन जाया करता है। इसी लिए यजुर्वेद ने आज्ञा दी है कि "तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु।" अर्थात् मनुष्य को ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए कि वह मेरे मन को शुभ भावनामय बना देवे। आज कल पाश्चात्य विद्वान भी इस सिद्धान्त का समर्थन करने लगे हैं। अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक मार्डन ने We build our future thought by thought लिखकर सिद्ध किया है कि हमारा भविष्य हमारे ही विचारों से बना करता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि भावनामय पुरुष को शुभ भावनाओं वाला होना चाहिए। शुभ भावनामय बनने के लिए यह पुस्तक उचित रीति से साधन के तौर पर प्रयोग में लाई जा सकती है। आशा है, अधिक से अधिक नर नारी पुस्तक से लाभ उठाने का यत्न करेंगे। पुस्तक को सफलता के साथ समाप्त करने के लिए, लेखक बधाई पाने योग्य है।

बलिदान भवन, देहली।	नारायण स्वामी
फाल्गुन शु० १० सं० १९८४ वै०	प्रधान, सार्वदेशिक सभा

भूमिका

भावना क्या है? इस प्रश्न का उत्तर कौन दे सकता है? भावना सब कुछ है और कुछ भी नहीं। यह समस्त ब्रह्माण्ड अपने असंख्य सूर्यों, चन्द्रमाओं और पृथ्वियों सहित प्रजापति की भावना ही तो है, जो मूर्तिमान होगई है। मनुष्य की भावना भी प्रजापति की भावना से कुछ कम नहीं। हर एक मनुष्य की भावना ने उसके लिए इस असीम जगत् को भिन्न भिन्न प्रकार का बना दिया है। जो मेरा जगत है, वह पाठकों में से एक का भी नहीं। इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत उतने ही ब्रह्माण्ड हैं, जितने इसमें मनुष्य हुए हैं, और होंगे। यह सच हो सकता है कि सब मनुष्यों के जगतों में बहुत कुछ समता है, परन्तु विषमता भी इतनी है कि एक मनुष्य का जगत् दूसरे का जगत नहीं हो सकता।

यही नहीं, एक मनुष्य का जगत भी सदा एक जैसा नहीं रहता। जो बचपन में था, वह युवावस्था में नहीं रहता। युवावस्था का जगत वृद्धावस्था में नहीं रहता। स्वास्थ्य का जगत अस्वस्थता के जगत से भिन्न, और समृद्धि के समय से दारिद्र्य-काल का जगत् विलक्षण होता है।

यह परिमित ज्ञान और सीमित शक्ति वाला, साढ़े तीन हाथ

का पिण्ड, जो अपने को मनुष्य कहने और कहलाने पर गर्व करता है, इसी भावना के बल से अनन्त ज्ञान और अतुल शक्ति से टक्कर लेता है। शान्त हो कर भी अनन्त का स्पर्द्धी बनना चाहता है। इसी खूँटे के बल पर यह बछड़ा कूदता है।

भावना का कोई पारावार नहीं, यह अमर है, अजर है वह दीप्ति सूर्य्य में नहीं, जो इसमें है। यह आग का गोला है तेज का पुञ्ज है। अनन्त आकाश इसकी गोद में खेलता है जहाँ सर्वत्र-गो महान वायु की पहुँच नहीं, वहाँ यह पहुँच जाती है। उच्च से उच्च पर्वत इसको रोकने में असमर्थ है। प्रकाश, जो पलों में लाखों कोस की दौड़ लगाता है, इससे दौड़ में बाज़ी नहीं ले जा सकता। विद्युत इससे पीछे रह जाती है और की तो क्या कहें, परमात्मदेव भी तो इसी की सृष्टि है। प्रेम और भक्ति का यदि कोई स्रोत है, तो यह। नास्तिकवाद का यदि कोई मूल है, तो यह। घृणा और द्वेष का यदि कोई आधार है, तो यह।

यह सब कुछ है, और कुछ भी नहीं। हवाई क़िले बनाना किसका काम है? भावना का! अक़ली गद्दे लगाने और ज़मीन आसमान के कुलावे मिलाने में कौन सिद्धहस्त है! कहोतो यह आसमान में थेगली लगा आवे, और कहो तो पाताल की भी तह की मिट्टी ले आवे। कवियों की कल्पना इसी देवी की उपासना करती है। उन्मत्तों का प्रलाप इसी का प्रसाद है। कभी यह न्यायाधीशों के हृदयों में विराजमान होकर अत्या-

चारियों के अत्याचारों से निर्बलों की रक्षा करती है और फिर यही अत्याचारियों के सिर पर सवार होकर उन से फिर अपराधियों के सताने का आदेश करती है।

इसी भावना के कुछ दृश्यों को, जिनसे हर एक मनुष्य का रंगमंच सुसज्जित होता है, लेखक ने इस पुस्तक में दिखाया है। भावना जैसी स्वच्छन्द अव्याहत-गति वाली वस्तु को पुस्तक के पृष्ठों में क़ैद करना, हर एक किसी के वश का तो है नहीं, यह तो कुछ स्वामी आनन्द भिक्षु सरस्वती जी की लेखनी में ही करामात है कि भावना की चारों राहें रोक कर इन पन्नों में ला बिठाया है। पुस्तक में जिन विषयों का समावेश है, वह साधारण—कुछ तो अतीव साधारण हैं। परन्तु भावना के प्रसाद से सब ही अनोखे और असाधारण बन गये हैं। लेख में वही उच्छृंखलता, वही स्वच्छन्दता जो भावना के विशेष गुण हैं, दृष्टि-गोचर होती है। 'क्रोध' शीर्षक निबन्ध पढ़ते ही चेहरा तमतमा उठता है, होंठ फड़फड़ाने लगते हैं। परन्तु 'क्षमा' इस उबाल पर एकदम पानी डाल देती है। एक बार आवेश से विवश होकर अत्याचारियों को पूरा पूरा दण्ड देने का भाव हृदय में उत्पन्न होता है, परन्तु दूसरी ओर क्षमा को ही विजय का साधन बतलाया जाता है। त्याग करने जाते हैं, तो सब छोड़ते-छोड़ते परमेश्वर का भी त्याग कर देते हैं। प्रेम करने चलते हैं, तो प्रेम-पात्र के मिलने में सुख नहीं, उसके विरह में ही सुख मिलता है। पुस्तक कुछ विचित्र ढंग से लिखी गई है।

त्रुटियाँ भी हैं, यदि त्रुटियाँ न हों तो भावना ही क्या हुई ? परन्तु उनके साथ कितने सुन्दर विचार हैं, जो आत्मा को ऊपर उठाने वाले; हृदय को शुद्ध करने वाले हैं। भावुक पाठक अवश्य ही इस भावमयी पुस्तक को अपनावेंगे, ऐसी मेरी दृढ़ आशा है। हमारे नवयुवक इससे विशेष लाभ उठा सकते हैं। हम जैसे बूढ़े तोते तो, जो अस्ताचल की चोटी पर खड़े हैं और दूसरी ओर लुढ़कनी लेने वाले हैं, इससे केवल यह पश्चात्ताप ही प्राप्त कर सकते हैं कि हमने वह न किया, जो लेखक कह रहा है, हमें करना चाहिये था। परन्तु नवयुवक, जिनके सन्मुख अभी समस्त जीवन पड़ा हुआ है; इससे बहुत कुछ उपकार ले सकते हैं और यह उन्हें बहुत से गढ़ों में गिरने से बचा सकती है।

घासी राम
एम० ए०, एल० एल० बी०

दो शब्द

भावनाएं हृदय का भोजन हैं। सद्भावनाएं उसे पवित्र और चिरञ्जीवी बनाती हैं, और दुर्भावनाएं उसे नष्ट करतीं हैं, जैसे कुपथ्य किसी भी सुन्दर बलिष्ठ को नष्ट कर देता है। इसी लिये वेद में सद्भावनाओं के लिए बहुत प्रार्थनाएं की गईं हैं। वेद बारंबार "तन्मेमनः शुभ संकल्पमस्तु" कहता है।

सद्भावनाओं के मन में उदय होते ही—हृदय की चाहे जैसी भी दुखी और निराश अवस्था होने पर उस में एक साहस-बल और त्याग की शुद्ध प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। दुर्भावनाओं के उदय होने पर प्रबल प्रलोभनों की आशा होने पर भी, वह प्रफुल्लता नहीं प्राप्त होती। शंका और आत्म-ग्लानि मन में बनी ही रहतीं हैं। इसीलिए सद्भावनाओं का मूल्य बहुत है।

मन में सद्भावनाएं बनी रखने के लिए विद्वान् उपनिषद् पढ़ते हैं—गीता पारायण करते हैं; व्रत, उपवास, अनुष्ठान करते हैं, परन्तु सरल स्वाभाविक जीवन में, व्यवहार और नित्यचर्या के साथ साथ जहां जिस जाति और समाज में सद्भावनाएं निरन्तर बनी रहें, वहां जातीय उत्थान होगा—वह जाति नष्ट होने से बचेगी, इसमें सन्देह नहीं।

इस के लिए आवश्यकता है साधारण—और सार्वजनिक साहित्य के रूप में—उच्च कोटि की हृदय को पवित्र तथा उन्नत बनाने वाली भावनाएं साधारण पढ़े लिखे स्त्री-पुरुषा तक पहुँचा कर, उनके हृदयों, विचार और वाणी को सात्विक और शुद्ध वनाया जाय।

ऐसी पुस्तकें हिन्दी भाषा में प्रायः नहीं हैं। जब हम कुरुचि उत्पन्न करने वाले कुत्सित पुस्तकों के सफ़ेद पहाड़ पर भोले और अबोध युवकों-युवतियों को विनोद करते देखते हैं तो हमें भय से कांपना पड़ता है। फलतः उस गन्दे साहित्य के प्रभाव से हमारी भावनाएं नष्ट हो रहीं हैं—सत्प्रवृत्ति हमारे स्वभाव से दूर हो रही है-और हम दिन-दिन मलिन हो रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक बड़ी ही अमूल्य पुस्तक है। पवित्र और सुन्दर हृदय-स्पर्शी भावनाओं को सीधी सरल भाषा में—सर्वत्र फैलाना इसका उद्देश्य है। पुस्तक का महत्व इस बातसे और बढ़ जाता है कि पुस्तक की भाषा और ढंग यद्यपि कवियों जैसे हैं—परन्तु वह कोरी कवि की कल्पना नहीं; एक ऐसे विवेक-शील पुरुष के आखों देखे और समझे हुए सत्य अनुभव हैं, जिन में वस्तुस्थिति की ऊंची उड़ान ज़रा भी नहीं, जो बिल्कुल स्वाभाविक, बिल्कुल गम्य और बिलकुल सरल है, किन्तु उन का फल बहुत अमोघ है।

जहां तक हमारा विचार है यह पुस्तक निस्संकोच भाव से, मनुष्य के लिए कल्याण पथ की प्रदर्शिका कही जा सकती

है। और इस पुस्तक के मनस्वी लेखक श्री० स्वामी आनन्द भिक्षु जी महाराज सरस्वती मानों हज़ार रूप होकर अपने वेष और वय को सजने योग्य भाषा में—अपने जीवन के वे पर्दे ज़िन में कुछ अलौकिकता है और जो मनुष्य मात्र के सार्वजनिक जीवन बन सकते हैं, बड़ी खूबी से दिखा रहे हैं।

ऐसी सुन्दर पुस्तक का घर घर प्रचार हो—यह मेरी अभिलाषा है।

श्री चतुरसेन वैद्य
आयुर्वेदाचार्य

——*——

पश्चात्कथन

इस शीर्षक को देख कर पाठक चौंकेंगे; और कहेंगे कि "प्राक्कथन" तो हमने सुना था—यह "पश्चात्कथन" की शैली कहां से आई। पर पाठको, चौंकिये नहीं। यह संसार विचित्रतामय है, उसी में से यह भी एक विचित्रता है।

जो पुस्तक आपके हाथ में है, वह भी विचित्रताओं से ख़ाली नहीं है। इसमें एक सन्यासी की चित्र-विचित्र भावनाओं का अपूर्व संग्रह है। किसी मनुष्य के आन्तरिक भाव क्या हैं, यह उसके उद्गारों से मालूम हो जाता है। स्वामी आनन्द भिक्षु जी का चौबीस घण्टे का चिन्तन स्वदेश और स्वजाति के हित के लिए ही होता है। इसी सम्बन्ध के स्फूर्तिदायक उद्गार इस सम्पूर्ण पुस्तक के भिन्न भिन्न शीर्षकों में बड़ी विचित्रता से बिखरे हुए हैं।

हमारे देश के नवयुवक और नवयुवतियाँ, जिन पर देश का भावी कल्याण सर्वथा निर्भर है, यदि इस पुस्तक को—एक बार नहीं, बारबार—चिन्तापूर्वक पढ़ेंगे, तो उन में उस सच्ची स्फूर्ति का संचार होगा, जिसकी आज हम को आवश्यकता है।

भगवान् भिक्षु जी के इन शिव संकल्पों को सिद्ध करें, यही प्रार्थना है।

तरुण भारत ग्रन्थावली
प्रयाग

लक्ष्मीधर बाजपेयी

विषय-सूची

—:०:❀:०:—

गर्व

मैं भारतीय हूँ। भारत की पवित्र रज से मेरा शरीर बना है। भारत के स्वच्छ और स्वास्थ्य प्रद जल-वायु में मैं पला हूँ। मैंने पृथ्वी पर आते ही इसी के सुन्दर और निर्मल आकाश में श्वाँस लिया था। मेरी आँखों ने पहले ही पहल भारत का दिव्य-दर्शन किया था। अहा! मैं बड़ा भाग्य-वान हूँ। भारत की पुण्य भूमि में जन्म पाने के लिए स्वर्ग के देवता भी तरसते रहते हैं। भगवान राम और कृष्ण इसी भूतल पर, इसी पवित्र देश के दिव्य और विशाल अञ्चल में पधारे थे! भगवान बुद्ध और महावीर इसी वायु-मण्डल में,

इसी की मिट्टी और जल से उत्पन्न हुए थे और इसी जल-वायु ने उन्हें नर्वाण-प्राप्ति का साधन बतलाया था। इसी जल-वायु में पल कर भगवान बुद्ध ने संसार को अनन्त प्रेम का अनन्त पाठ पढ़ाया था। इसी देश में जन्म लेकर महान् अशोक ने एक विशाल राजनीतिक और धार्मिक साम्राज्य का सम्मिलित निर्माण किया था, और इसी देश की जाग्रत धार्मिक भावनाओं ने अपने एक ही अनियन्त्रित प्रवाह में चीन, जापान, कोरिया, श्याम, मलाया, अफ़ग़ानिस्तान तथा मध्य एशिया को बुद्ध-धर्म में आवेष्ठित किया था ! मानव-इतिहास के आदि-काल में जब कि सारा संसार अज्ञान-तिमिर में पशु-जीवन व्यतीत करता था; यहाँ के ऋषियों ने गङ्गा, यमुना तथा ब्रह्मपुत्र आदि नदियों के तट पर शास्त्रों, उपनिषदों, तथा बड़े बड़े आध्यात्मिक सिद्धान्तों की रचना की थी। अहा ! मेरी जननी जन्म-भूमि भगवान् शङ्कर तथा रामानुज स्वामी की जन्मदात्री है, और तो और, अभी दो-तीन सौ वर्ष पहिले भी इसकी धूल में स्वामी तुकाराम और गुरु रामदास, नानक और कबीर, प्रताप और शिवाजी खेल रहे थे।·········और·········और कल ही स्वामी रामकृष्ण और विवेकानन्द, रामतीर्थ और स्वामी दयानन्द"··· इसी वायु-मण्डल में आध्यात्मवाद और निर्वाण-प्राप्ति के गीत गा रहे थे !

अहा ! मेरा भारत कैसा सुन्दर और प्यारा देश है ! क्या भगवान की सुन्दर सृष्टि में इसका कोई और भी सानी

हो सकता है ? नहीं, कदापि नहीं ! ऐसी अलौकिक छटा, अनोखी सज-धज, और कहाँ ? भारत का प्राकृतिक दृश्य सौन्दर्य का भण्डार है। बन-उपवन, पहाड़ों-कन्दराओं का अनुपम सौन्दर्य और उस सौन्दर्य-राशि में साधु-महात्माओं की पवित्र कुटियों की रमणीयता: स्वच्छ खुले हुए आकाश का नीलावरण, सुन्दर झीलों, नदी-नालों की उल्लसित और उन्मादकारी तरङ्गें तथा विभिन्न रङ्गों के सुन्दर-सुन्दर पक्षियों के मधुर कलरव क्या स्वर्ग को भी प्राप्त हो सकेंगे ? कौन कह सकता है हमारे भारतवर्ष को ही देख कर कवियों ने स्वर्ग की कल्पना की हो ? क्या स्वर्ग का भी सचमुच कोई अस्तित्व है, या इसकी सृष्टि केवल कवियों की भाव भरी कल्पनाओं में ही हुई है ? जो कुछ भी हो, पर हमारी भारत-भूमि तो साक्षात् स्वर्ग ही है। विश्व-नियन्ता के विराट स्वरूप की आत्मा का यह सूक्ष्म परन्तु भरपूर निदर्शन है ! और आदि काल से इसे अपने इस अस्तित्व पर गर्व रहा है, तथा भविष्य में भी रहेगा ! भारत माता आध्यात्मिक सिद्धान्तों के आधार पर एक विश्व-सभ्यता का निर्माण कर सकती है। संसार की आध्यात्मिक सम्पत्ति का कोष भारत में ही है। कहना नहीं होगा कि सृष्टि के आदि-काल में ज्ञान-विज्ञान के सूर्य का प्रादुर्भाव इसी बसुन्धरा में हुआ था !

हमारी जननी संसार में अद्वितीय हैं। समस्त विद्याओं और कला-कौशल इत्यादि की यही जन्म-दात्री है। संसार

इसी की मिट्टी और जल से उत्पन्न हुए थे और इसी जल-वायु ने उन्हें निर्वाण-प्राप्ति का साधन बतलाया था। इसी जल-वायु में पल कर भगवान बुद्ध ने संसार को अनन्त प्रेम का अनन्त पाठ पढ़ाया था। इसी देश में जन्म लेकर महान् अशोक ने एक विशाल राजनीतिक और धार्मिक साम्राज्य का सम्मिलित निर्माण किया था, और इसी देश की जाग्रत धार्मिक भावनाओं ने अपने एक ही अनियन्त्रित प्रवाह में चीन, जापान, कोरिया, श्याम, मलाया, अफ़ग़ानिस्तान तथा मध्य एशिया को बुद्ध-धर्म में आवेष्ठित किया था! मानव-इतिहास के आदि-काल में जब कि सारा संसार अज्ञान-तिमिर में पशु-जीवन व्यतीत करता था; यहाँ के ऋषियों ने गङ्गा, यमुना तथा ब्रह्मपुत्र आदि नदियों के तट पर शास्त्रों, उपनिषदों, तथा बड़े बड़े आध्यात्मिक सिद्धान्तों की रचना की थी। अहा! मेरी जननी जन्म-भूमि भगवान् शङ्कर तथा रामानुज स्वामी की जन्मदात्री है, और तो और, अभी दो-तीन सौ वर्ष पहिले भी इसकी धूल में स्वामी तुकाराम और गुरु रामदास, नानक और कबीर, प्रताप और शिवाजी खेल रहे थे।........और.........और कल ही स्वामी रामकृष्ण और विवेकानन्द, रामतीर्थ और स्वामी दयानन्द"... इसी वायु-मण्डल में आध्यात्मवाद और निर्वाण-प्राप्ति के गीत गा रहे थे!

अहा! मेरा भारत कैसा सुन्दर और प्यारा देश है! क्या भगवान की सुन्दर सृष्टि में इसका कोई और भी सानी

हो सकता है ? नहीं, कदापि नहीं ! ऐसी अलौकिक छटा, अनोखी सज-धज, और कहाँ ? भारत का प्राकृतिक दृश्य सौन्दर्य का भण्डार है। बन-उपबन, पहाड़ों-कन्दराओं का अनुपम सौन्दर्य और उस सौन्दर्य-राशि में साधु-महात्माओं की पवित्र कुटियों की रमणीयता: स्वच्छ खुले हुए आकाश का नीलावरण, सुन्दर झीलों, नदी-नालों की उल्लसित और उन्मादकारी तरङ्गें तथा विभिन्न रङ्गों के सुन्दर-सुन्दर पक्षियों के मधुर कलरव क्या स्वर्ग को भी प्राप्त हो सकेंगे ? कौन कह सकता है हमारे भारतवर्ष को ही देख कर कवियों ने स्वर्ग की कल्पना की हो ? क्या स्वर्ग का भी सचमुच कोई अस्तित्व है, या इसकी सृष्टि केवल कवियों की भाव भरी कल्पनाओं में ही हुई है ? जो कुछ भी हो, पर हमारी भारत-भूमि तो साक्षात् स्वर्ग ही है। विश्व-नियन्ता के विराट स्वरूप की आत्मा का यह सूक्ष्म परन्तु भरपूर निदर्शन है ! और आदि काल से इसे अपने इस अस्तित्व पर गर्व रहा है, तथा भविष्य में भी रहेगा ! भारत माता आध्यात्मिक सिद्धान्तों के आधार पर एक विश्व-सभ्यता का निर्माण कर सकती है। संसार की आध्यात्मिक सम्पत्ति का कोष भारत में ही है। कहना नहीं होगा कि सृष्टि के आदि-काल में ज्ञान-विज्ञान के सूर्य्य का प्रादुर्भाव इसी वसुन्धरा में हुआ था !

हमारी जननी संसार में अद्वितीय है। समस्त विद्याओं और कला-कौशल इत्यादि की यही जन्म-दात्री है। संसार

भारतीय देवी-देवताओं को ही भिन्न-भिन्न प्रकार से मानता और उनके आगे मस्तक टेकता है। भारतीय सभ्यता ही शुद्ध और आदर्श है। विश्व की कोई सभ्यता इसकी बराबरी नहीं कर सकती। इसमें और अन्य सभ्यताओं में इतना ही अन्तर है जितना कि परार्थ और स्वार्थ में, उपकार और अपकार में। जहाँ औरों ने सचाई प्रकट करने या ज़रा से मत-भेद हो जाने पर लाखों स्त्री-पुरुषों तथा बाल-बच्चों का ख़ून बहाया है, वहाँ भारतीय सभ्यता में किसी को कभी कोसा तक नहीं गया। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा ही है:—

"ये यथा माम् प्रपद्यन्ते ....। मुझे कैसे ही कोई स्मरण करे, सब स्वीकार है। हे पार्थ! सभी मार्गसे चल कर मनुष्य मुझ में ही प्रवेश करते हैं।" क्या ऐसी अपूर्व सहन शीलता का उदाहरण किसी और भी सभ्यता अथवा धर्म में है?

हमारी प्राचीन सभ्यता पर आज की खड़ी हुई पाश्चात्य सभ्यता का आक्रमण शुरू हो गया। पर क्या भारतीय सभ्यता मिट जायगी? नहीं, यह कभी न होगा। यह सभ्यता सत्य, न्याय और प्रेम पर स्थित है। इसमें बड़े बड़े ज्वार भाटे आए और विलीन हो गए। यह समुद्र की तह की तरह निश्चल और गम्भीर रही और रहेगी। इसकी तह में वही पहली सी शान्ति और गम्भीरता अब तक बनी रही और बनी रहेगी। भारत की ही भूमि पूर्व और पश्चिम, नई और पुरानी दुनियाँ

का मिलन-स्थल है। पूर्वी देशों में केवल इसी ने अपनी प्राचीन परम्परा और आचार-विचारों की दृढ़ता पूर्वक रक्षा की है, और अपने को पश्चिमी सभ्यता के साँचे में ढलने से सुरक्षित रक्खा है। पश्चिम ने यदि कहीं इसका स्पर्श किया भी है, तो उसका प्रभाव केवल बाहरी रहा है। उसका हृदय, उसकी आत्मा, और उसके जीवन को पश्चिम अभी परिवर्तित नहीं कर सका है। भारतवर्ष आज भी अछूता तथा सुरक्षित है। क्यों? क्या इस लिए कि वह अपने अतीतकाल के गौरव की छाया में कालयापन करे? नहीं, इस लिए नहीं, बल्कि इसलिए भी कि वह अपने उच्च ध्येय को भविष्य में प्राप्त करे। भारत को अपने महान् उद्देश्य की पूर्ति करनी है और वह उद्देश्य है, सम्पूर्ण संसार को अध्यात्मिकता के रङ्ग से रँग देना, प्राणी मात्र को सुख और शान्ति तथा स्वातन्त्र्य प्रदान करना……। इसके लिए हम भारतीयों को क्या करना होगा?

हमें अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ रहना होगा। हम किसी भी प्रान्त के हों, कोई भी हमारा मत या मज़हब हो, हम पहले भारतीय, पीछे और कुछ। "मैं भारतीय हूँ, मेरी जननी, मेरी धात्री, मेरी जन्म-भूमि, मेरी मातृ-भूमि, भारत-भूमि है।" क्या हमें कभी और किसी दशा में भी, अपनी प्यारी माता को बिसारना चाहिए? कदापि नहीं। हमारे अङ्ग-अङ्ग में, हमारी नस-नस में भारतीय भावनाएँ और भारतीय आकाँक्षाएँ भरपूर होनी चाहिएँ। हमारी प्रत्येक बात, हमारा प्रत्येक व्यवहार,

हमारा आचार-विचार और हमारी रहन-सहन से भारतीयता का सौरभ आना चाहिए। हमें किसी उपयोगी अन्तर्राष्ट्रीय बातों और विचारों से परहेज़ नहीं, पर हम उन्हें अपने भारतीयता के सुन्दर वेश में लाकर ही ग्रहण करेंगे। हम में प्रान्तीयता का लेश भी न होना चाहिए। हमारा मन्दिर, हमारी मस्जिद तथा हमारा गिरजा, सभी भारत माता के ही पवित्र और विशाल पूजास्थल है। उस घट-घट व्यापी परमात्मदेव के उपासना मन्दिर हैं। हम पढ़ें, सूत कातें, ग्राम में प्रचारार्थ जायँ, स्वराज्य के गीत गायँ, खद्दर का प्रचार करें, राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लें, पर हमारे प्रत्येक कार्य में भारतीयता की मनोहर झलक हो। हम सब एक ही माता के शिशु हैं, एक ही उद्देश्य के उपासक हैं। हमारा एक ही व्रत है और वह—यह कि हम सभी मातृ-भूमि के चरणों पर अपना आत्म-समर्पण करें, तथा निर्माल्य के रूप में अपने सारे सुखों और कोमल भावनाओं को मातृ-मन्दिर में चढ़ादें। रहन-सहन, आचार-विचार तथा अपने प्रत्येक कार्य में हमें अपने को एक सच्चे भारतीय के रूप में व्यक्त करना होगा। तभी हम अपनी सभ्यता को भरपूर सुरक्षित कर सकेंगे, और अपनी माता के सच्चे सपूत कहाएँगे। हमें भारत और भारतीयता के पवित्र भावों पर जीना और उसकी मान-रक्षा के लिये मरना होगा।

भारत की मिट्टी और जलवायु ने हमारे शरीर को निर्मित किया है और हमारी आत्मा में अमरत्व के भाव भरे हैं। यदि

भारत की मान-रक्षा के लिए इस तुच्छ कलेवर और आत्मा की आवश्यकता हुई, तो हम सहस्रों बार इन्हें सहर्ष उस पर वार देंगे। हमें अभिमान है, गर्व है, हमने राम और कृष्ण, बुद्ध और महावीर, शङ्कर और रामानुज, कबीर और नानक, रामतीर्थ और विवेकानन्द, दयानन्द और गान्धी की भूमि में जन्म लिया है और इस भूमि में बारम्बार जन्म लेने के लिए हम अपना स्वर्ग और अपनी मुक्ति भी लाखों बार निछावर कर देंगे।

ज्ञान
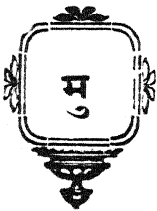
झे वह शूर-वीर दिखा दो, जो मेरी आत्मा को छिन्न भिन्न करने का घमण्ड करता हो। जब तक ऐसा पुरुष दृष्टिगोचर नहीं होता, दयानन्द के लिए सत्य में सन्देह करना स्वप्न में भी असम्भव है।”

भगवान के सिंहनाद से सारा भवन गूँज उठा। सभा में सन्नाटा छा गया। क्यों? महाराज को सत्य के प्रचार से रोका जा रहा था और वह न रुके। उन्होंने कहा “कोई कुपित हो; कोई अप्रसन्न हो, कोई मुझे कष्ट ही क्यों न दे, पर मैं तो सत्य का प्रचार करूँगा ही, मैं सब कुछ कर सकता हूँ, पर सत्य का

परित्याग नहीं कर सकता, चाहे चक्रवर्ती सम्राट भी क्यों न अप्रसन्न हो जाय।"

हा! सत्य इतनी बुरी चीज़ है! इतनी भयानक वस्तु है!! इससे प्रजा का अहित होता है! पारस्परिक फूट और कलह की वृद्धि होती है! सुव्यवस्था में विघ्न और बाधाएँ उपस्थित होती हैं! लोगों में नाजायज़ जोश और उत्तेजना उत्पन्न होती है! इसका प्रचार ठीक नहीं। इसे रोकना और बन्द करना चाहिये। हाँ, मदिरा का प्रचार बुरा नहीं, गाँजा, भाँग, चरस, अफ़ीम, तम्बाकू इत्यादि का प्रचार तो होना चाहिये। चाय, काफ़ी और कोको आदि वस्तुएँ तो एक सभ्य देश और जाति के लिए ज़रूरी ही हैं। इसका प्रचार रुक नहीं सकता। इस प्रकार के प्रचार में विघ्न नहीं उपस्थित किए जा सकते; विघ्न और बाधाएँ तो सत्य के प्रचार में उपस्थित की जाती हैं; क्योंकि सत्य का प्रचार साम्राज्यवाद की रक्षा के लिए—अन्य देशों को गुलाम बनाये रखने के लिए, घातक-महाघातक है। और इस लिए सत्य का प्रचारक महा भयानक है। वह सुख व शान्ति और सत्य व्यवस्था के लिए बहुत ही भयानक है। शान्ति और सुख की रक्षा के लिए उसके अपराध क्षमा नहीं किए जा सकते। वह विद्रोही है, और उसका दण्ड मृत्यु—केवल मृत्यु है।

ईसा का क्या दोष था? क्या संसार की शान्ति के लिये विश्व-सेवा में अपने को आत्म-समर्पण करना पाप है? क्या

दूसरे के दुखों में आँसू बहाना पाप है ? क्या क्षण भंगुर मानव-जीवन की ममता त्याग कर उसे आजीवन पर-हित व्रत में निछावर कर देना दोष है ? आह ! सुकरात—सत्य पर मरने वाले सुकरात–ने क्या कुसूर किये थे ? क्या सत्य का प्रचार करना; परमात्मा का प्रकाश फैलाना गुनाह है ? गुरु तेग़-बहादुर का कौन सा दोष था ? क्या भगवानके विराट अस्तित्व में अपने नश्वर शरीर को विलीन कर देना अपराध है ? क्या शत्रु को प्यार करना ज़ुल्म है ? और तो और वीर-बन्दा और वीर हक़ीक़त तथा वीर देवी जोन ने कौन सा अपराध किया था? क्या अपनी जाति और अपने धर्म का सम्मान करना भी एक घातक पाप है ? यदि नहीं, तो क्या इनका पुरस्कार भयानक से भयानक मृत्यु दण्ड था ? और वह भी केवल इसलिये, कि इन वीरों और विद्वानों ने सत्य सिद्धान्त पर स्वयं अपना आचरण दृढ़ रक्खा और सर्व साधारण के हितार्थ उनका प्रचार करना अपना कर्तव्य समझा। ये मरे–जले, सब कुछ हुए, पर सत्य के अनुराग से विमुख न हुए। और अन्त में लोगों को असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, और मृत्यु से अमर जीवन की ओर, और बन्धन-पाश से मोक्षानन्द की ओर ला के रहे और फिर रहे।

क्यों न हो ? वे ज्ञानी थे, वीर थे, विद्वान थे, तत्वदर्शी थे, तथा ज्ञान–विज्ञान के उपासक थे। ज्ञान शक्ति है, ज्ञान में प्रतिभा का प्रभुत्व है। ज्ञान में प्रकाश है। ज्ञान में ईश्वरत्व है।

ज्ञान ईश्वर का स्वरूप है। ज्ञान प्राणियों को अभय प्रदान करता है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति'—ज्ञान से मुक्ति होती है। ज्ञान का फल मोक्ष है। ज्ञानियों के शरीर को फाँसी पर लटका दो, धधकती हुई अग्नि में जला डालो, शिकञ्जे में कस दो, उनकी अँगुलियों को काट-काट कर मोम बत्ती की तरह जला दो, वे उफ़ न करेंगे, दोहाई न मचाएँगे। उनके लिए रोना-पीटना, सर धुनना असम्भव है, वे उसे अपनी मर्यादा के विरुद्ध समझते हैं। वे हँसी-खुशी सूली पर चढ़ जाते हैं और हँसते-हँसाते मृत्यु का स्वागत करते हैं। क्यों? वे जानते हैं आत्मा अमर है, अजर है। अग्नि उसे जला नहीं सकती। जल उसे गला नहीं सकता। वायु उसे सुखा या उड़ा नहीं सकती। वह एक अविनाशी पदार्थ है। शरीर को, जिसका जो जी चाहे, करे-धरे। आत्मा की रक्षा करने वाले ऐसे अवसरों पर शरीर की चिन्ता एक दम छोड़ देते हैं। वे समझते हैं, इस शरीर का कार्य हो गया। वे जिस निमित्त-कार्य को लेकर इस संसार में आए थे, वह पूर्ण हो गया। अब यह मृत्यु उन्हें इस बन्धन से छुड़ा कर और भी स्वतन्त्रता पूर्वक अपना—इससे भी गुरुतर-कार्य सम्पादन करने में सहायक होगी। उन्हें शरीर का मोह, संसार के विछोह का शोक न होने से इस समय साधारणतया प्रसन्नता ही होती है। भारतवासी चिरकाल से आत्मा की अमरता को जानते हैं, और उन्हें जानते रहना चाहिए। ज्ञान वह स्वर्गीय पदार्थ है, जिसे हर एक

स्त्री-पुरुष को प्राप्त करना और तदनुसार व्यवहार कर अपना मनुष्य-जीवन सफल करना चाहिए। सत्य ज्ञान है और ज्ञान सत्य है। सत्य छिप नहीं सकता, छिपाया नहीं जा सकता। वह दब नहीं सकता, दबाया भी नहीं जा सकता। सत्य शिव है, सुन्दर है और अमर है और इसके अनुष्ठान में, इसके बलिदान में, किसी भी जाति एवं राष्ट्र का अमर एवं स्थायी निर्माण हो सकता है।
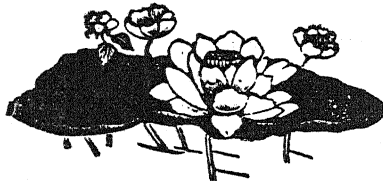
त्याग

चाहते हो ? माँगो ।”

भगवन ! मुझे इस ‘चाहने’ ने तबाह कर डाला। जन्म-जन्मान्तर से यह बला मेरे पीछे पड़ी हुई है। यह चाह मेरी जन्म को बैरिन होगई है। जन्म लेते ही मैं चाह के लिए उन्मत्त हो गया। बाल्यावस्था की ‘चाहना’ जैसी कुछ थी, वह थी ही; पर यौवन की उन्मत्त चाह-मतवाली उत्कण्ठाओं ने तो मुझे एकदम ही विस्मृत कर दिया। परन्तु अब डरने लगा हूँ—इस भयानक चाह से बहुत डरने लगा हूँ। यह तो जीवन से भी अधिक भयङ्कर और करुणा से भी अधिक दारुण

है। इसके स्पर्श में मैं कैसे रह सकूँगा देव ? यह तो एक ही सङ्घर्ष में मुझे अपने छोटे अस्तित्व से दूर–बहुत दूर कर देगी ! फिर यह तो एक ही दुर्दम्य प्रवाह में मेरे सारे अपनेपन को–मेरी सभी सीमा को अपने में सदा के लिए डुबो देगी। फिर मैं अपने अपनेपन को कहाँ रख सकूँगा–वह अपनेपन जिस ने मुझे तुम्हारा बनाया है !

क्या तुम मेरी परीक्षा लेते हो ? मुझे भरमाते हो ? पर यह भी मैं कैसे कहूँ ? मुझे इसके कहने का अधिकार ही क्या है ? और यदि अधिकार हो भी तो मैं नहीं जानता, क्या कहूँ, कैसे कहूँ ? बूँद भला समुद्र को कैसे कहेगा कि तुम मेरी परीक्षा लेते हो ? उसी प्रकार देव ! मैं—अस्तित्व-विहीन मैं जो कि तुम्हारे अतिरिक्त, एवं तुम से परे होकर कुछ भी नहीं हूँ, कैसे कहूँ कि तुम मेरी परीक्षा लेते हो.........मुझे भरमाते हो। अच्छा यह भी सही। परन्तु हाय ! मेरी छोटी सीमा तुम्हारी इस विराट् व्यापकता को किस भाँति सँभाल सकेगी। आह ! तुम सीमा-हीन होकर; अपरिमित होकर अनन्त होकर यहाँ आते हो। देव ! मैं तुम्हारी इस अनन्त व्यापकता को अपनी परिमितता में कैसे रख सकूँगा ? निर्धन की इस सूनी कुटिया में यह वैभव, यह अनन्त एवं उन्मादकारी सौन्दर्य किस भाँति रह सकेगा ? हटना होगा, हटना होगा देव........अथवा मुझे ही अपने में अन्तर्हित कर लेना होगा—सदा के लिए, अनन्त काल के लिए; जिस से फिर मैं

तुम्हारे अतिरिक्त कभी भी अपना न हो सकूँ--कभी भी--जन्म जन्मान्तर भी !!

तुम मुझे परखते हो, तो परख लो। मैं उसके लिए तैयार हूँ। पर हां, अपने बल-बूते पर नहीं। तुम्हारी कृपा और आशीर्वाद के भरोसे। तुम मेरी परीक्षा लो, और तुम ही मुझे परीक्षा देने और उस में उत्तीर्ण होने के योग्य बनाओ। मैं तुम्हारा हूँ और तुम्हारा रहना चाहता हूँ और हाँ, तुम्हारा रहूँगा भी। मेरे उत्तीर्ण होने से मेरी-तुम्हारी दोनों की लाज रहेगी, प्रतिष्ठा होगी, तुम्हारा नाम होगा, यश बढ़ेगा और मेरा काम बनेगा। परन्तु हाय ! मैं कितना मूर्ख हूँ ! तुम्हारा नाम और यश कैसा ? तुम यश और कीर्ति--इन सब के परे हो, इन सब से आगे हो ! लेकिन देव, इतना होने पर भी तुम क्यों मेरी परीक्षा लेते हो ? मैं तुम्हारा भक्त हूँ, तुम्हारा प्रेमी हूँ। मेरे हृदय में तुम्हारे लिए शुद्ध प्रेम है, अनन्य भक्ति है। क्या तुम उसे नहीं जानते; नहीं समझते ? मेरा यह भाव क्या तुम से छिपा हुआ है ? फिर क्यों मुझे परखते हो, देखते हो; मेरा परिहास करते हो। क्या इस प्रकार के दुःखान्त नाटक और कहानी के बिना तुम्हारे संसार का इतिहास अधूरा या नीरस रहेगा ? मुझे परीक्षा में मत डालो। मुझे प्रलोभनों में मत फँसाओ। मैं कुछ नहीं चाहता। मैंने तुमसे प्रेम किया, तुम्हारी भक्ति की, तुम्हारी सेवा की। इसका ही आनन्द मुझे क्या कम है ? इसी में मैं अपने को बड़भागी और धन्य

समझता है। अब मुझे अधिक किसी बात की लालसा नहीं है। यही मेरे लिए क्या कम है? क्या मैं ने किसी उपहार या लोभ—लालच के लिए सेवा-वृत्ति धारण की है? नहीं। सेवा करना, प्रेम करना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। मैं कोई प्रेम का व्यापारी नहीं हूँ। मैं ने तुम्हारी भक्ति किसी स्वार्थ या व्यापार-वृद्धि से नहीं की।

परन्तु नहीं, यह विचार भी कितना भ्रामक है। तुम्हारे प्रेम में तो मेरा बहुत अधिक स्वार्थ है—वह स्वार्थ, मेरे देव, तुम्हारी ही सीमा की तरह व्यापक और तुम्हारी ही व्यापकता की भांति विराट है। उस प्रेम में, मैं अपने सारे दुखों को, अपने सारे सन्तापों को, अपनी अतुलित आत्म-ग्लानि को भूलना चाहता हूँ और इस प्रकार अपनी परिस्थितियों से विस्मृत होकर उसमें—आह! तुम्हारी व्यापक आनन्द-सीमा में अपने को सदा के लिए विलीन कर देना चाहता हूँ!

आह! तुम आने लगे चतुर—इतना धीरे-धीरे, इतनी नीरव गति से, इतना अव्यक्त होकर, पैरों की चाप छुपा कर!! आओ, आओ, अनन्त आओ! तो क्या योग और ज्ञान की सीख देने आए हो? पर नाथ! मैं ज्ञान और योग लेकर क्या करूँगा? ज्ञान तो परिमित है देव! और तुम उस से कहीं अधिक अपरिमित हो। और योग? योग के द्वारा मैं महान् होकर तुम्हें पाऊँगा। पर मैं महान् होकर तुम्हें पाना नहीं चाहता..............इस लिए मुझे योग नहीं चाहिए। इस

योग को लेकर मैं क्या करूँगा ? मुझे तो वेदना चाहिए······ दर्द चाहिए, तुम्हारी विरह चाहिए । इनके लिए देव; मैं तुम्हें भी त्याग सकूँगा, हँसते हुए, सहर्ष प्रफुल्ल होकर !! तुम मुझे वेदना दो—वह वेदना, जो तुम्हें भी अपनी छाया में विलीन कर ले । मुझे तुम अपनी विरह दो—वह विरह, जिसकी सीमा के प्रत्येक छोटे से छोटे अंश में तुम्हारा मिलन—विराट और विस्मृतमय मिलन हो !!!

विजय

"इस में क्या शक ! आर्य समाज का इतिहास बलिदान का इतिहास है। और तुम जानते ही हो, शहीदों का खून यों ही नहीं जाता। आर्य समाज को क़ायम हुए अभी कठनाई से ६० वर्ष हुए हैं, परन्तु इस थोड़ी अवधि में ही इस के आदर्श की मर्यादा रखने के लिए कितनी ही आत्माएं बलि-वेदी-पर चढ़ गई हैं। आर्य समाज का बच्चा-बच्चा धर्म का महत्व समझता है और उस महत्व की रक्षा के निमित्त सर्वदा ही अपने को बलिदान करने के लिए तैयार रहता है।"

"केवल त्याग और बलिदान ही नहीं, आर्य समाज के पास

त्याग से भी सुन्दर और बलिदान से भी प्रिय एक विभूति है, और वह है क्षमा। उस क्षमा को वे मृत्यु से भी अधिक प्यार करते हैं। इस लिए आर्य समाजी अपने खून का बदला दूसरे के खून से नहीं लेते। यह तो उनकी मर्यादा को गिराने वाली बात है। वे तो एक खून के बदले में अपना सहस्रों खून देकर ही सन्तोष पाते हैं।"

"स्वामी श्रद्धानन्द जी का खून हुआ। बड़ा जोश फैला। अखिल हिन्दू जाति का हृदय क्षोभ और आन्तरिक ग्लानि से मसोस उठा। उस समय यदि वह प्रतिकार के लिए खड़ी हो जाती, उस समय यदी वह खून का बदला खून से लेने को तैयार हो जाती, तो दिल्ली की पापी छाती पर कितने क़ब्रगाह खड़े हो जाते, हिन्दुस्तान की कितनी मस्जिदें ढह जाती और अबदुलरशीद जैसे कितने नारकीय कीड़े मसल दिए जाते, पर क्या हुआ ? हृदय की प्रज्वलित अग्नि ने हृदय में ही जलकर न जाने कितने कोमल भावों को जला दिया। पर किसी किड़े को कुचला नहीं गया। मस्जिदें भी उसी प्रकार मौजूद रहीं। क्या क्षमा का उदाहरण इस से अधिक सुन्दर हो सकता है ?"

"प्रतिकार की भावना को जाग्रत करने के लिए श्रद्धानन्द जी की हत्या कम न थी। ऐसे ही अवसरों पर तो वीरता और क्षमा-शीलता का पता चलता है। आर्य समाज का तर्क और उसकी अनोखी और अकाट्य युक्तियाँ तो प्रसिद्ध है हीं, पर मैं समझता हूँ, उसकी सहिष्णुता और उदारता भी उससे

कम नहीं है। और यह है, उसके संस्थापक दयानन्द के तप और अर्चना की विभूति।"

"हाँ, उसकी तपस्या और अर्चना में किसी को सन्देह ही क्या हो सकता है। दयानन्द को कई बार विष दिया गया। परन्तु उन्होंने अपराधी को सदा क्षमा ही किया। सब से अन्तिम बार विष देने पर–जिस में उन्होंने अपने नश्वर शरीर त्यागे–उन्हीं के लोभी रसोइये ने विश्वास घात किया, परन्तु उन्होंने उसे भी क्षमा कर दिया।"

"केवल क्षमा ही नहीं किया, वरन् जिस रुपये के लोभ से अपराधी ने विष दिया था, वह रुपया भी उन्हों ने उसे देकर उसे भाग जाने की सलाह दी, जिससे वह प्राण दण्ड से बच गया। आह! कितनी उत्कृष्ट उदारता थी।"

× × ×

आर्य–समाज का आकाश मेघाच्छादित है। आर्य–जाति का धार्मिक आकाश आज भिन्न-भिन्न विपदाओं से घिरा हुआ है, उसका अस्तित्व ख़तरे में है, उसका कोई सहायक भी नहीं, परन्तु इस नाज़ुक समय पर भी वह पथ-भ्रष्ट नहीं हुआ। उसकी मर्यादा और शान्ति में रत्ती भर भी अन्तर नहीं आया। उसका इस समय का उदाहरण इतिहास के लिए एक महत्व-पूर्ण और अमूल्य सामग्री है।

वैदिक सभ्यता में—आर्य संस्कृति के विकास काल में, किसी दशा में, धर्म की आड़ में, ईश्वर के नाम पर किसी को

सताया नहीं गया, बल्कि अपने ऊपर और अपने धर्म के ऊपर आघात करने वालों के लिए दयादृष्टि ही रक्खी गई। और उन्हीं पवित्र भावों की रक्षा करना प्रत्येक आर्य-वीर और भद्र पुरुष का कर्त्तव्य है।

मत, मज़हब, रीलिजन (Religion) या फेथ (Faith) एक चीज है। मनुष्य धर्म उससे बिलकुल जुदा और भिन्न वस्तु है। हम अपने मत या मज़हब के विचार से ईसाई और मुसलमान इत्यादि हो सकते हैं, परन्तु मनुष्य-धर्म के नाते हम सब एक हैं, और हमें एक रहना चाहिए हमें अपने इस विश्व-बन्धुत्व के पवित्र सिद्धान्त को कभी, किसी जोश; आवेश और मदान्धता में नहीं भूल जाना चाहिए। हम सब भाई-भाई हैं, हम पहिले मनुष्य और पीछे और कुछ हैं। सच्चे धर्म और पवित्र सभ्यता में किसी को अपना विशेष विश्वास और सम्मति रखने, या प्रकट करने, अथवा उसके प्रचार करने में किसी तरह रोका नहीं जाता। धर्म के महत्वपूर्ण चिह्न हैं, सहिष्णुता, सहन-शीलता और उदारता। हमें अपने विरुद्ध मत रखने वाले के साथ प्रेम-व्यवहार रख कर उसके हृदय में अपने धर्म, विश्वास एवं श्रद्धा के भाव उन्तन्न कराने का यत्न करना चाहिए और यह तभी होगा, जब हम उदार होंगे।

उदारता और सहन-शीलता दैवी सम्पत्ति है। उसका महत्व कोई सच्चा वीर और प्रतिभाशाली नरपुङ्गव ही ज्ञान और समझ सकता है। शत्रु के साथ प्रेम, उदारता और

मित्रता का व्यवहार करना कोई साधारण बात नहीं। यह एक वीर और समर्थ पुरुष को ही शोभा देता है और वही ऐसा कर भी सकता है। कायर, कापुरुष और दुर्बल मनुष्यों के लिए इस प्रकार के वीरोचित व्यवहार की मर्यादा करना कठिन नहीं, वरन् असम्भव है। संसार चक्र में फँसे हुए मनुष्य अपनी झूटी मान-मर्यादा, बात-व्यवहार आदि अनेक तुच्छ और थोथी बातों के पीछे जो भी चाहे करें—वह न्याय करें, दण्ड दें-दिलावें, परन्तु सत्पुरुषों और साधू-महात्माओं को इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं होती। उन्हें अपराधी को क्षमा कर अपराध के कारणों का यथाशक्ति अनुसन्धान कर उसको निर्मूल करने का यत्न करना चाहिए, उसी से संसार कल्याण मार्ग की ओर प्रवाहित होगा।

उदारता जीवन और शक्ति है। तुम उदार बनो, सरल हृदय बनो, सब के प्रति उदार भाव रक्खो। सादगी से रहो, शत्रुओं, प्रति-द्वन्दियों, विपत्तियों—सभी के प्रति-उदारता से सोचो, बोलो, उदारता का व्यवहार करो, और अपनी भावनाओं को भी उदार बनाओ। शक्ति-शाली बनने और शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए उदारता ब्रह्मास्त्र है। और समाज की इसी में विजय है और यही सच्ची और सर्वोच्च विजय है। मनुष्य शरीर, धन-दौलत, राज-पाठ, ज़मीन-जागीर आदि वस्तुओं पर अधिकार पाना विजय नहीं है। विजय है, हृदय पर अधिकार पाना, मनुष्य को अपनाना-अपना कर लेना।

स्वाभिमान

म्पूर्ण संसार एक होकर विरोध करने के लिए खड़ा होजाय, मेरे अपने पराए बन जाँय, मित्र शत्रुता पर उतर आएँ, जीवन के भिन्न भिन्न प्रलोभन अपने महा रौद्र रूप में मेरी परीक्षा करने लगें, मैं फाँसी के तख्ते पर चढ़ा दिया जाऊँ अथवा मुझे रत्नजटित सिहासन पर कोई क्यों न बिठा देवे, पर फिर भी मैं अपने आप को नहीं भूलूंगा। मैं अपने मन को शान्त और बुद्धि को निर्मल बनाए रक्खूँगा। कितनी ही विकट और भयानक परिस्थिति हो, मैं उसमें भी आनन्द में रहूँगा। मुझे मेरा व्यक्तित्व प्यारा

है। मैं अपने अस्तित्व का सम्मान करता हूं। मैं उसे जन समु-दाय में विलीन न होने दूंगा। नहीं, नहीं, मनुष्य समुदाय ही क्यों? वह तो ईश्वर के ईश्वरत्व में भी लय होने वाली वस्तु नहीं। मेरा निजत्व—मेरे व्यक्तित्व का अस्तित्व-मेरा अपना स्वत्व है। उसमें और किसी का कोई अधिकार नहीं है। हर एक अपने अपने स्वरूप और लक्षणों से एकान्त स्वतन्त्र है। अपने व्यक्तित्व की स्वाधीनता और स्वतन्त्रता बनाए रखना मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। इससे मित्रों की मित्रता, शत्रुओं की शत्रुता, प्रिय जनों की प्रीति, पूज्य और सम्मानित व्यक्तियों का आदर-सम्मान तथा अधिकारियों के अधिकार का कुछ सम्बन्ध नहीं।

मैं अपनी सम्मति प्रकट करते समय केवल सत्य और न्याय को देखता हूँ। किसी के आदर या तिरस्कार की मुझे परवाह नहीं। बाहरी मान-प्रतिष्ठा, लोकमत या नेतृत्व मेरे लिए कोई महत्व नहीं रखती। मैं केवल अपनी आत्म-रक्षा और आत्म-सम्मान पर दृष्टि रखता हूँ। मनुष्य के समाज में, देवताओं की सभा में, राक्षसों के संग्राम में मैं अपनी स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र व्यक्तित्व के लिए लड़ूंगा और उनकी प्राणपण से रक्षा करूँगा। यदि किसी असत्य को सारा संसार सत्य निर्धारित करता हो, तो भी मैं संसार तथा जन समूह की कोई चिन्ता न कर सत्य को सत्य और असत्य को असत्य ही कहूँगा! परन्तु इसका अर्थ यह न होगा कि मैं औरों की सम्मति का मान

नहीं कर सकता। मुझे दूसरे के व्यक्तित्व का आदर नहीं। मैं सब की अपने समान ही प्रतिष्ठा समझता और करता हूँ। मैं सत्य को सुनने और समझने के लिये सदा तैयार रहता हूँ। मैं अपने मन और बुद्धि की शान्ति को भावों के आवेश और मनोवृत्तियों की चञ्चलता में भङ्ग नहीं होने देता। प्रत्येक वस्तु का निर्णय मैं उसके गुण-दोष को देखकर करूँगा। मैं हरएक के अच्छे से अच्छे स्वरूप को पहचानने का यथा-शक्ति प्रयत्न करता हूं। जो मुझसे विरुद्ध है या जिसके विपरीत मैं अपनी सम्मति रखता हूं, उनके भी सद्गुणों और सद्-उद्देशों का आदर करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं। परन्तु जिसे मैं सत्य और न्याय समझता हूँ, उसके समर्थन और प्रचार करने में मैं पूर्ण स्वतन्त्र और सदा निर्भय रहता हूँ। दुर्बलों के हित-रक्षा और मातृ-शक्ति का सम्मान करना मेरा प्रधान कर्त्तव्य है। मैं दूसरों की सेवा करना अपना धर्म समझता हूं।

मनुष्यत्व बहुत महान है उसमें किसी प्रकार की सङ्कीर्णता और मदान्धता का समावेश नहीं। देश; धर्म, जाति, तथा रङ्ग इत्यादि का भेद भाव नहीं है। पारस्परिक प्रेम, सहृदयता आदि सद्गुणों का प्रजातन्त्र राज्य है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की आधार शिला पर मनुष्यत्व का विशाल भवन स्थित है। मैं सदैव मनुष्य बनने और मनुष्य रहने के लिए प्रयत्न-शील रहूँगा। यही मेरा धर्म है, यही मेरी आराधना और प्रतिज्ञा है। मैं इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। यदि मैं इस उद्योग

में सफल न हुआ तो किसी में भी सफल न हो सकूँगा। मनुष्य बनना, पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त करना, सरल नहीं, पर कठिन भी नहीं। मनुष्य ही मनुष्य बनते और बनाते हैं। मनुष्य-मनुष्य में अन्तर भले ही हो, पर यथेष्ट संयम, त्याग, और तपश्चर्य्या से कोई भी मनुष्य बन सकता है। वैदिक सभ्यता और आर्य संस्कृति में क्या है? केवल इसी मनुष्यत्व की शिक्षा-दीक्षा और इसी की प्राप्ति तथा रक्षा के लिए सरल उपाय और साधन। राम और कृष्ण कौन थे? बुद्ध कौन था? शङ्कर और दयानन्द कौन थे? पूर्ण मनुष्य! ईश्वरत्व मनुष्यत्व के पश्चात् है। सम्पति कुछ नहीं! अधिकार कुछ नहीं! यश कुछ नहीं! सुख-शान्ति कुछ नहीं! शरीर भी कुछ नहीं! केवल मनुष्यत्व ही सब कुछ है। कहीं-कहीं लोग अपने देश और धर्म के लिए उचित और अनुचित व्यवहार करने में कोई बुराई नहीं समझते। उनके सामने उनका व्यक्तित्व कुछ नहीं होता। वे कभी भी अपने मनमाने सिद्धान्तों तथा राष्ट्र के नाम पर अपने मानवी कर्त्तव्य और सदाचार को परित्याग कर सकते हैं। पर मैं तो ऐसी कल्पना भी नहीं कर सकता। मैं अपने व्यक्तित्व को बड़ी चीज़ समझता हूँ। मैं मनुष्यत्व को सर्वोपरि मानता हूँ। यदि व्यक्ति के जीवन में सदाचार न हो, मनुष्य में मनुष्यत्व का प्रभाव न हो, तो किसी भी देश और जाति का उद्धार नहीं हो सकता। आज हमारा कोई आन्दोलन सफल क्यों नहीं होता? संस्थाएँ क्यों नहीं पनपतीं? केवल मनुष्यों के

अभाव से, मनुष्यों में मनुष्यत्व के न होने से। जहाँ मनुष्य होते हैं, जहाँ मनुष्यत्व का आदर होता है, वहाँ क्या नहीं होता और क्या नहीं हो सकता। प्राचीन भारतवर्ष के सामने मनुष्यत्व ही आदर्श था। यही स्वाभिमान की वस्तु थी, और यही रहेगी भी!

सौन्दर्य

म ने देखा ? वह लड़का कितना अच्छा था ! विनय शीलता, साधुता, शिष्टता, तो उसके चेहरे से टपकती थी । बात-व्यवहार; रहन-सहन कितना सुन्दर और सभ्यता पूर्ण ! ऐसा मालूम होता था, मानो आजकल की नई रोशनी का दूषित बातावरण उसे छू तक नहीं गया । कितना शान्त और गम्भीर था । वाणी कैसी मधुर और सुन्दर थी । कैसे प्यारे प्यारे शब्द बोलता था ! इतनी थोड़ी अवस्था में विचारों की यह प्रौढ़ता, आचार में इतनी दृढ़ता, व्यवहार में इतनी पवित्रता एवं सरलता—मानो वह एक अद्भुत वस्तु हो,

साधारण मनुष्यत्व से बहुत ऊँचा हो ! मैंने तो इस युग में ऐसा सुशील और सर्वगुण सम्पन्न लड़का देखा ही नहीं। पता नहीं, समाज के इस घृणित वायु-मण्डल में उसने इतने दिव्य एवं स्वर्गीय गुण कैसे प्राप्त किये थे । युग के कलुषित वातावरण में यह इतनी सुन्दर शिक्षाओं से किस भाँति अलंकृत हुआ था !!

पर शिक्षा क्या है ? क्या इसका तात्पर्य बड़ी-बड़ी नौकरियाँ प्राप्त कर अर्थ सङ्कट दूर करना है ? क्या इसका तात्पर्य अपनी आत्मा को बेंच कर झूठ, कपट, छल, व्यभिचार तथा भिन्न-भिन्न पापों के द्वारा अपनी सांसारिक स्थिति ऊँची करनी है ? क्या इसका महत्व इसी में है कि मनुष्य स्वर्ग के बदले नरक का, शिव के बदले शैतान का, जीवन के बदले मृत्यु की अबाध्य शान्ति का, निस्पृह-आत्म समर्पण के बदले खोटी खुशामद का, प्रणय के बदले घृणा और द्वेष का, भगवान के बदले निर्मूल सांसारिक प्रपञ्चों का, तथा निष्काम सेवा के बदले देश-द्रोह का सौदा करे ? यदि शिक्षा का तात्पर्य यह है, तो मैं उस शिक्षा को दूर से ही नमस्कार करता हूँ। शिक्षा का अभिप्राय अपने भीतर भगवान की स्थापना कर अपने मनुष्यत्व का विकास करना है। वास्तविक शिक्षा का उद्देश अपनी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति कर अपने को विश्व-सेवा के पवित्रतम ध्येय में सदा के लिये आत्म-समर्पण करना है। यथार्थ शिक्षा का तात्पर्य अपनी आत्मा में भगवान का स्पर्श अनुभव करना

तथा अपनी छोटी सीमा में विश्व की विराट व्यापकता को लीन करना है । शिक्षा की आधार-भीति निराशावादिता नहीं। यह तो मनुष्य को अनन्तकाल तक आशावादी बनाती है। सांसारिक विपत्तियां भले ही जीवनमें चारों ओर मँडराती हों, जीवन की परिमित सीमा अपरिमित विघ्न-बाधाओं से भले ही आच्छन्न हो, यह शिक्षा मनुष्य को इन सांसारिक उलझनों, प्रपञ्चों, विघ्न बाधाओं से बहुत ऊँचा कर कर्त्तव्य-पथ पर ले जाती है। महाभारत का घनघोर संग्राम अपनी पराकाष्ठा पर था। युद्ध के आवेश में शत्रु-मित्र किसी की पहचान न रह गई थी। भयानक रूप से नर-संहार हो रहा था। शत्रु-पाण्डव-दल ने भगवान भीष्म को आहत कर दिया। वह कौरवों के शिविर में लाए गये । अब युद्ध-स्थल न था-मृत्यु-शय्या थी ! बूढ़े भीष्म बाण-शय्या पर मृत्यु की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे थे। इतने में कुछ लोगों ने प्रवेश किया।

वृद्ध भीष्म ने कहा—"कौन" ?

"दादा जी, मैं हूँ। आप के अन्तिम दर्शन तथा युद्ध में विजयी होने का आशीर्वाद लेने की आकाँक्षा से आया हूँ"—पैरों पर गिरते हुए युधिष्ठिर ने कहा।

"वत्स विजयी हो" इन उदार शब्दों से भगवान् भीष्म ने अपने शत्रु-पक्ष के प्रधान नेता युधिष्ठिर को आशीर्वाद दिया—उस युधिष्ठिर को जिसकी मृत्यु के लिए वे युद्ध-स्थल में लालायित थे और जो समर-प्राङ्गण में उनकी मौत का भी भूखा था।
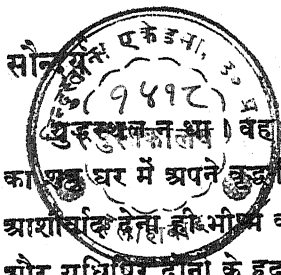
युद्धस्थल न था। वह तो घर की बात थी। समर-स्थल का शत्रु घर में अपने वृद्ध पितामह के पास आया था और उसे आशीर्वाद देना ही भीष्म का कर्तव्य था। इस समय भीष्म और युधिष्ठिर दोनों के हृदय में एक दूसरे के प्रति शत्रु-भाव न था, वह तो स्वाभाविक रक्त-स्नेह का अवसर था। उस समय भीष्म युधिष्ठिर के लिये हज़ारों कौरवों की सेना कुर्बान कर सकते थे, और युधिष्ठिर भीष्म के जीवन के लिए अपनी सहस्रों जान निछावर कर सकते थे। शिक्षा का तात्पर्य यही है। एक दूसरा उदाहरण लीजिए। जङ्गलों में छिपे हुए महाराणा प्रताप की पत्नी ने क्षुधा से पीड़ित अपने प्राणप्रिय पुत्र को घास की रोटियाँ दीं। ज्योंही बालक उसके टुकड़े मुँह में डाल रहा था कि एक बिल्ली आई और बालक के हाथों से रोटी झपट कर भाग गई। बालक रोने लगा। यह दृश्य देखते ही राणा की आँखें भर आइ······उन्हें अपने भूतपूर्व गौरव का ध्यान आया ·········साथ ही उनके हृदय में यह भाव भी पैदा हुआ कि एक बार सिर झुका देने से भी अतीत वैभव पुनः लौट सकता है·········पर यह भाव उठते ही उनकी आत्मा एक अत्यन्त वेदना से काँप उठी, उनके मुँह से निकल गया—"स्वतन्त्रता के संग्राम में देश, धर्म्म, और जाति की रक्षा के युद्ध में-राजपूतों को सिर भगवान के सामने भी नहीं झुक सकता, यदि स्वयं भगवान ही विपक्षी दल में क्यों न हों!"

शिक्षा के आदर्श का यह दूसरा दृष्टान्त है। पर क्या आज

हम वह शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं ? क्या हमारे सम्मुख वास्तविक शिक्षा का आदर्श उपस्थित किया जाता है ? हाय ! आज हम कितने आदर्शच्युत हो गये हैं ? हमारी शिक्षा आज हमें मनुष्यत्व का पाठ नहीं पढ़ाती । वह तो हमें गुलामों के (साँचे) में ढालती है । इस दूषित शिक्षा के द्वारा आत्म-गौरव नहीं, वरन् देश-द्रोह सिखाया जाता है । इस घृणित शिक्षा प्रणाली में हमें राष्ट्र के निर्माण कर्त्ता प्रातः स्मरणीय शिवाजी को पहाड़ी चूहा कहने को सिखाया जाता है और हमारे हृदयों में अपने पूर्वजों के प्रति अश्रद्धा के भाव उत्पन्न किये जाते हैं । अच्छा तो यही था कि उस प्रकार से शिक्षित होने की अपेक्षा हम आजीवन मूर्ख ही रहते—क्योंकि इस दशा में कम से कम हम देशद्रोही तो नहीं बन सकते—अपनी आत्मा और भगवान के बदले शैतान के नारकीय प्रलोभनों के दस्यु तो नहीं हो सकते ।

× × × ×

सन्ध्या होने ही वाली थी । वह उदास होकर स्कूल से आया और कहने लगाः—

"मैं ऐसी शिक्षा से मूर्ख ही अच्छा हूँ । मैं अपनी इस मूर्खता में अपने देश, अपनी जाति, अपने धर्म के प्रति कोई पाप तो नहीं कर सकूँगा । भारतवर्ष के अन्न, जल, वायु में पल कर मेरा मस्तिष्क इङ्गलैण्ड, अमेरिका की दूषित वायु से अपवित्र तो नहीं होगा । पूर्व की जलवायु मेरे शरीर और आत्मा के लिए हानिकारक तो नहीं सिद्ध होगी !"

वह असहयोग काल न था। वह तो असहयोग से पहले—बहुत पहले—३२ साल पहले—का वह समय था, जब कि विरला ही अर्द्ध-शिक्षित भारतवासी अङ्गरेज़ी शिक्षा प्रणाली के विषैले प्रभाव को समझ सकता था। उस समय न तो किसी ने उसे स्वदेशी आन्दोलन की महत्ता और न किसी ने असहयोग और बहिष्कार आन्दोलन की ही विशेषता बतलायी थी। उसकी शिक्षा भी उतनी पर्याप्त नहीं हुई थी कि वह गम्भीर राजनीतिक विषयों का विश्लेषण कर सके। वह युक्त प्रान्त के एक साधारण स्कूल का साधारण, परन्तु विशाल हृदय, शुद्ध मस्तिष्क, एवं सरल तथा पवित्र आचरण का तरुण विद्यार्थी था। वह अपना था पर अपना होते हुए भी वह मेरे लिए अज्ञात था, क्यों कि मैं उसे आज तक नहीं पहचान सका हूँ—आज तक भी जब कि वह मुझसे और मेरे अनित्य संसार से बहुत दूर एक भिन्न लोक में बसा है; जब कि मेरे पास उसकी प्यारी-प्यारी भोली सूरत और उसमें जीवन की अमिट तथा सुन्दरतम स्मृतियों के अतिरिक्त और कुछ भी शेष नहीं है। हाँ, अपना होते हुए भी वह परदेशी अपना न था। वह पूर्व-जन्म के पाप के संस्कारों से अभिशाप रूप में इस कृत्रिम और त्रुटि-पूर्ण संसार में एक अमिट और उन्मादकारी अध्यात्मक सौन्दर्य लेकर आया था। नहीं तो क्या जीवन के तरुण काल में साधारण शिक्षा एवं अवाञ्छनीय परिस्थियों में रह कर भी वह इतना सुन्दर, इतना विशुद्ध, इतना अच्छा, इतना पवित्र

और न जाने कितने गुणों से अलंकृत हो सकता था ?

एक दिन अचानक ही उसका सुन्दर मुखड़ा आवेश, उत्ते-जना और आन्तरिक व्यथा के मिश्रित भावों से तमतमा उठा और वह कहने लगाः—

"यह प्रलयकारी आँधी कभी बन्द भी होगी ? कौन जाने इसने तो देश के बच्चों का सत्यानाश ही कर दिया है। भारत की प्राचीन सभ्यता का मलियामेट कर दिया। हमारी पूज्य माताओं पर झूठा कलङ्क! महारानी कौशल्या ने दशरथ को विष दे दिया। हमारे पूर्वजों का अनादर—वे जङ्गली और असभ्य थे। हमारे धर्म का अपमान, धर्म पुस्तकों का अनादर—वेदों में गडेरियों के गीत हैं—ऐसी अनर्थकारी बातें विद्यार्थियों को क्यों सुनाई जाती हैं। क्या कोई भारतीय हृदय इसे सुनकर सहन कर सकता है ? कभी नहीं। शिक्षा शिक्षा के लिए होनी चाहिए। उसके भीतर राष्ट्रीय, जातीय, राजनीतिक, अध्यात्मिक, जीवन और शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों के ह्रास की आयोजना नहीं होनी चाहिए। इतना ही नहीं, इस निर्जीव और विषैली शिक्षा ने हमें हर प्रकार से चरित्र-हीन भी बना दिया है। प्राइमरी स्कूल से लेकर कॉलेज और यूनीवर्सिटी के छात्रा-लयों तक को देख जाओ, तुम्हें अत्यन्त शोचनीय दशा मिलेगी। ऐसे पढ़ने से क्या लाभ ? बड़ी बड़ी डिगरियाँ प्राप्त कर लेने पर भी हम में आत्म-विश्वास नहीं होता। जीवन सादा और स्वाभाविक नहीं, प्रत्युत कृत्रिम—बहुत कृत्रिम, ख़र्चीला और

आडम्बर युक्त होजाता है। और नौकरी तथा ग़ुलामी की भावना जीवन पर्यन्त नहीं जाती। मैंने स्कूल छोड़ दिया। अब किसी सरकारी स्कूल में नहीं पढ़ूंगा, पर पढ़ूंगा ज़रूर। पढ़ना मेरा व्यसन है, जीवन है, आनन्द है, मनोरञ्जन है। न पढ़ूंगा तो करूंगा क्या, जीऊँगा कैसे ?"

वह एक पितृ-हीन बालक था। उसकी माता और उसका बड़ा भाई, यही उसके सब कुछ थे। माता ग़रीब थी, दुखिया थी, पर उसके हृदय की भावनाएँ बड़ी पवित्र और उच्च थीं। वह रुपये की धनी न होकर भी हृदय से काफ़ी धनी थी। वह सदा प्रसन्न और सन्तुष्ट रहती थी और दीन दुखियों का दुख बटाती थीं। उसका भाई पढ़ता था। ऐसी अनिश्चित परिस्थिति और कठिन अवस्था में उस वीर बालक ने यह कठोर व्रत धारण किया और उस व्रत को आजीवन सफलता पूर्वक निवाहा भी।

वह—प्यार की प्रतिमा के रूप में वह निर्मोही परदेशी आज इस पापी संसार में नहीं है और उसके वियोग की वेदना को शान्त करने वाली उसके भौतिक शरीर को आज कोई भौतिक तसवीर भी नहीं है; परन्तु जीवन के प्रत्येक निःश्वास में, जब कि उसकी उन्मत्त याद किसी प्रकार दुनियाँ को आँखों के सामने ला देती है, जब जीवन का कोई प्रफुल्ल पहलू आज की सूनी दुनियाँ में उद्भ्रान्त हाहाकार मचाने लगता है, तो उस समय सूक्ष्म दृष्टि के सन्मुख एक मूर्ति खड़ी हो जाती है

और उसके साथ ही आत्मा में एक अत्यन्त सुखद स्पर्श का अनुभव होने लगता है। उस समय मालूम होता है मानो हम दोनों अतीत की गोद में उसी भाँति, उसी सरलता और नैसर्गिक स्नेह के वायु मण्डल में एक दूसरे के साथ खेलते हों... ...पर हाय! यह प्रवञ्चित कल्पना थोड़ी ही देर में आत्मा पर काला आवरण डाल देती है!

वह सौन्दर्य का उपासक था और उसकी उपासना करते करते वह स्वयं सुन्दर बन गया था। ईश्वर सुन्दर है। उसका सत्-चित्त-आनन्द स्वरूप सुन्दर और अत्यन्त सुन्दर है। वह सुन्दरता की विलास-भूमि है और स्वयं सुन्दरता को चाहता और उस पर मोहित रहता है। उसकी अद्भुत और सुन्दर सृष्टि की सुन्दरतम रचना मनुष्य है।

मनुष्य की सुन्रता कहाँ है? रूप-रङ्ग में, शकल-सूरत में, अनमनी आँखों में, आँखों की मतवाली रसीली चितवनों में, पतले-पतले लाल-लाल ओठों में, ओठों पर खेलती हुई मधुर मुस्कान में--कहाँ-कहाँ बतलावें? मनुष्य तो सर्वाङ्ग ही सुन्दर बनाया गया है। उसकी सुन्दरता अपूर्व है, आदरणीय है। पर यह सुन्दरता समय पाकर या हमारी नादानी—असावधानी से कुसमय ही अदृश्य हो जाती है। लेकिन इसके अतिरिक्त मनुष्य में कुछ और सुन्दरता है जो तेल में बसे हुए फूलों की सुगन्ध की तरह उसके भौतिक शरीर के न रहने पर भी अपनी सुन्दर सुगन्ध और सुवासना से संसार को सुखी और सुग-

न्वित करती है। और वह सुन्दरता है, सुन्दर गुणों की, सुन्दर भावनाओं की, सुन्दर बातों की, सुन्दर कामों की और सुन्दर व्यवहारों की। मनुष्य संसार में नहीं रहता, पर उसके सुन्दर गुण, उसकी अमर एवं सुन्दर सुकृति, उसके पीछे सदा बनी रहती है और उससे संसार लाभ उठाता है। सौन्दर्य में ही ईश्वर की झलक देख पड़ती है। सुन्दरता पूजा की वस्तु है। सुन्दर वस्तु से सब को सदा आनन्द मिलता है, पर सौन्दर्य सात्विक, स्वाभाविक और अकृत्रिम होना चाहिए। सार्थक सौन्दर्य मन का है न कि तन का। परन्तु उस में तो तन और मन, शरीर और आत्मा सभी का सौन्दर्य था।

पश्चाताप

य! यह कैसा अनर्थ! क्या मेरी दृष्टि मुझे धोखा दे रही है? मैं जागता हूँ या स्वप्न देख रहा हूँ। आख़िर यह है क्या? उसे तो मैं रास्ते में ही छोड़ आया था। वह मन्दिर के बरामदे तक तो पाँव रख ही नहीं सकता। फिर यहाँ! भगवान के पवित्र सिंहासन पर! हैं! क्या बात है? लो, वह तो ग़ायब भी हो गया! वह मूर्ति अन्तर्ध्यान होगई! इसी सोच-विचार में उसका अच्छी तरह दर्शन भी न कर सका। हा! मैं छल गया, धोखा खा गया! भगवान ने मुझे दर्शन दिया था, पर मैं अभागा उन्हें पहचान भी न सका। हा! × × × × ×

मनुष्य अपने को तो बड़ा चतुर और बुद्धिमान समझता है; परन्तु हाय! वह कितना तुच्छ और विवश प्राणी है! हम एक दूसरे के साथ रहते-सहते, उठते-बैठते, खाते-पीते हैं, पर हम यथेष्ट रूप से किसी को जानते-पहचानते नहीं, और न उसके लिए कुछ वास्तविक यत्न ही करते हैं; हाँ, उसके पीछे—उसके न रहने पर—रोते और बेतरह सिर धुनते अवश्य हैं।

इसी जमुना-तट पर गौएँ चराने वाले, गोपों के घर में ऊधम मचाने वाले, वँशी के बजाने वाले कृष्ण को उनके जीवन-काल में कितने आदमियों ने पहचाना था। वेदों के परम उद्धारक शङ्कर स्वामी को किस ने विष दिया था? उनके साथियों ने ही तो! हाय! मनुष्य की दृष्टि बड़ी सङ्कुचित है। यह अपने स्वार्थ में अन्धा रहता है। यह अपने कलुषित हृदय और मनोविकारों के कारण किसी को जानने-पहचानने का यत्न नहीं करता और अपने ही राग-रङ्ग, ईर्ष्या-द्वेष, मान-अपमान में मस्त रहता है। उसे नीच-ऊँच, अमीर-गरीब, जात-पात, अपना-पराया इत्यादि अनेक छोटी-बड़ी स्वार्थ युक्त दुर्भावनाएँ तथा कुवासनाएं घेरे रहती हैं और यह उनके वशीभूत होकर जीवन के सूक्ष्म तत्वों को ठीक-ठीक पहचान ही नहीं सकता, बल्कि कभी-कभी महापुरुषों तक का तिरस्कार कर बैठता और उन्हें सताता रहता है। हा! आज मुझ से भी यही भयङ्कर भूल हुई।…………

अरे ! मैं ने क्या किया ? मैं ने उसे 'दूर हट, दूर हट' के अपमान जनक शब्दों से क्यों हटा दिया ? मैं नहा-धोकर पूजा करने के लिए ज़रूर आ रहा था। पर क्या उसके छू जाने से-उसके परछांई से—मैं अपवित्र हो जाता ? होभी जाता तो क्या था ? फिर लौट कर जमुना-स्नान कर आता। गङ्गा की पवित्र धारा पापियों के छू जाने से अपवित्र नहीं होजाती, वरन् उनको पवित्र बना देती है। भगवान ने भेलनी के झूठे बेर खाए, तो वे अपवित्र न हुए, वलिक भेलनी को पवित्र कर दिया। अपनी आत्मा को पापों से अछूता बनाना ही तो सच्ची पवित्रता और अछूतापन है। किसी के छू जाने या स्पर्श करने मात्र से छूत हो जाना या पापी समझना अपने पवित्र धर्म को अपवित्र और कलङ्कित करना है। अस्तु—मेरे लिए उसे इस प्रकार दुत्कारना उचित न था। अबोध, बालक का हृदय कोमल होता है। हाय ! ग़रीब दुबक कर—बुरी तरह सहम कर रह गया था। उसका कोमल हृदय दहल गया ! आह ! मैं ने बड़ा पाप किया। बालक तो साक्षात् ईश्वर का स्वरूप ही होता है, उस दिन वह महात्मा जी कह रहे थे "ईश्वर का दर्शन करना हो, तो दीन-दुखियों, अनाथ-असहायों, कोढ़ी-अपाहजों, तथा रोगियों और भिखारियों के निकट जाओ, अबोध बालकों के पास बैठो। भगवान दीनानाथ ऐसी ही जगह रहते हैं और वहाँ अपने भक्तों और अधिकारियों को दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं। जाओ और प्रभु दर्शन से अपना

जन्म सफल करो। पर हाँ, देखना, तुम्हें दीन के दीन और दासानुदास होकर जाना होगा, प्रेम और श्रद्धा के साथ जाना होगा, अपने हृदय को सेवा और भक्ति-भाव से परिपूर्ण करके जाना होगा। वहाँ किसी प्रकार की अहमण्यता का प्रवेश नहीं है। अहसान जताने का काम नहीं है।"

हाय! मैं इस भूल के लिए क्या करूँ? यह पश्चाताप तो अब मुझे जीवन भर के लिए हो गया! भगवान उस अछूत बालक के रूप में मुझ से मिलने के लिए—राह में खड़े थे। मैंने अपनी पवित्रता और उच्चता के झूठे आडम्बर में उनका तिरस्कार किया! हा! मुझे ज़िन्दगी में यह एक अवसर मिला था! उसे मैं ने अपनी अल्पज्ञता से यों खो दिया! मुझे पारसमणि मिला था, पर मैं ने उसे काँच समझ कर फेंक दिया—गँवा दिया। जिस के द्वार का मैं भिखारी था वह न जाने मेरी किस सेवा और किस प्रेम-पुण्य से प्रसन्न होकर स्वयं मुझे कृतार्थ करने के लिए मेरे द्वार पर आए और मैं ने उन्हें दुत्कार दिया। क्या मेरे समान कोई और भी मूर्ख, पातकी और अभागा हो सकता है? कबीर जुलाहा होकर भक्तराज बन गया; बाल्मीकि डाकू होकर ऋषि बन गया, और······और सूरदास कामी, क्रोधी होकर भी महात्मा बन गया, और मैं—अभागा मैं—अपनी इस मूर्खता और ढोंग में, यों मारा गया-बुरी तरह मारा गया। हा! अब मेरा यह पापी जीवन कैसे उद्धार होगा? हाय, अब क्या करूँ? मेरी यह बिगड़ी कैसे

बन सकेगी ? क्या इस अपराध के लिए मुझे प्रायश्चित स्वरूप आजीवन पश्चाताप की अग्नि में जलना होगा ?

जिसके मन्दिर का मैं पुजारी था; जिसकी सेवा-टहल करते-करते मेरी इतनी आयु व्यतीत हुई थी; जिस के भोग और प्रसाद से मेरा और मेरे समस्त बाल-बच्चों का पालन-पोषण हुआ और होता है; जिस की पूजा और सेवा से ही मेरी इतनी प्रतिष्ठा और इतना आदर-सम्मान है; जिसके दर्शनों को बड़े बड़े योगी-यती, साधू-महात्मा लालायित रहते हैं; जिसे मुझे बड़े प्रेम और भक्ति के साथ अपनी छाती से लगाना था; जिसे उठाकर बड़े गौरव और सत्कार से अपने मस्तक पर बैठाना था; जिसके गुणानुवाद में मुझे बड़े प्रेम से सुमधुर भाषा में स्तुति-प्रार्थना करनी थी, उसी के साथ मेरा यह कठोर व्यवहार हुआ। हा ! मनुष्य स्वभाव का यह अनर्थकारी पतन !!!

शक्ति

जिस निर्भयता और स्वतन्त्रता से सन्यासी लोग काम कर सकते हैं, उस प्रकार गृहस्थ के जञ्जाल में फँसे हुए आदमी कैसे कर सकते हैं। इन लोगों ने इसी लिए तो सिर मुँड़वाया है। रही सुसंगठित होने की बात। वह आज नहीं, तो कल होगी ही। अब गाड़ी का पहिया रुकने वाला नहीं। शुद्धि और संगठन की लहर चल पड़ी है। यह प्रचण्ड प्रवाह अब किसी के रोके नहीं रुक सकता। हाँ, विशाल आर्य्य-जाति को कुछ और अपना हृदय उदार और विशाल बनाना चाहिये। यह ऊँच-नीच, छुआ-छूत का रोग

एकदम दूर हो जाना चाहिए।"

"भाई, अब इस मामले में कुछ दम नहीं रहा है। बड़े-बड़े पण्डित-पुजारी, तिलक-धारी तक अब अछूतों को छूते हुए अपने को भ्रष्ट नहीं समझते।"

"भ्रष्ट तो मनुष्य स्वयं अपने हृदय की अपवित्रता से होता है। जिसका हृदय शुद्ध है, उसके तो स्पर्श मात्र से अपवित्र मनुष्य भी पवित्र हो जाता है। शुद्ध आचरण तो कोई भी मनुष्य रख सकता है। अस्पृश्यता मनुष्य जीवन का सब से बड़ा कलङ्क है। किसी मनुष्य को अछूत समझना मनुष्य समाज का निरादर करना है।"

"निस्सन्देह, ऐसा ही है। पर यह तो कहिये कि बौद्ध-भाइयों के प्रति आप का क्या भाव है?"

"अजी, यह आप ने क्या पूछा? ये तो अपने ही भाई-बन्धु हैं। महात्मा बुद्ध की जन्म-भूमि भारतवर्ष है। बौद्ध भाइयों के सर्व श्रेष्ठ तीर्थ-स्थान तथा मन्दिर आदि यहीं हैं। अहिंसा, सत्य आदि धर्म के लक्षणों के ये वैसे ही मानने वाले हैं, जैसे हम। हां, कुछ भ्रान्त लोगों ने इस विषय में ग़लत-फ़हमी फैला दी है, और खेद है कुछ लेखकों ने भी इस विषय में, बिना यथेष्ट अन्वेषण के अपने भ्रमपूर्ण विचार उत्पन्न कर डाले हैं। परन्तु विद्वानों तथा गम्भीर अन्वेषकों ने यह बात प्रमाणित कर दिया है कि बौद्ध तथा हिन्दू दोनों एक ही धर्म के भिन्न भिन्न पहलू हैं। एक ही सभ्यता तथा संस्कृति के भावों को

जाग्रत करने वाले हैं।"

"हाँ, मैंने भी इस विषय में कुछ अध्ययन किया है और आप के प्रकाश डालने से यह और भी स्पष्ट हो गया। जब बौद्धों के विषय में यह बात रही, तो सिक्खों और हिन्दुओं में तो किसी को कुछ भेद-भाव मानना ही नहीं चाहिए?

"हाँ, यह ठीक है। ये भी विशाल हिन्दू जाति के ही एक अङ्ग हैं। एक ही सभ्यता की गोद में पले, और एक ही ओम् या ओंकार के पुजारी हैं। सिक्ख, 'शिष्य' शब्द का अपभ्रंश है। पञ्जाब में सिक्ख और हिन्दुओं में रोटी-बेटी का सम्बन्ध बराबर चला आता है। महाभारत और रामायण का पाठ भी सिक्ख गुरुद्वारों में होता रहता है। सिक्ख-गुरू हिन्दू धर्म के रक्षक थे। उन्होंने अपने खून से हिंदू धर्म की रक्षा की और अब भी समय आ जाने पर सिक्ख भाई सदा हिन्दुओं के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर चलते हैं और भविष्य में भी चलेंगे।"

"निस्सन्देह यह हर्ष का विषय है कि ये सब जातियाँ अपने को हिन्दू जाति का अङ्ग मानते हुए इसके सङ्गठन में कटिबद्ध हैं। परन्तु समझ में नहीं आता कि किसी-किसी प्लेटफार्म से कभी-कभी कुछ विरोधात्मक ध्वनि क्यों निकलती है?"

काँग्रेस में सभी लोग सङ्गठन को पसन्द नहीं करते, सो बात नहीं है। कितने ही काँग्रेस के प्रमुख नेता इस महत्व-पूर्ण

आन्दोलन में सम्मिलित हैं। और यह कहना अनुचित न होगा कि जो लोग सङ्गठन को राष्ट्र-निर्माण के कार्य में कुछ बाधक बतलाते हैं, वे एक प्रकार से अपना व्यक्तिगत मत प्रगट करते हैं। उनकी आवाज़ काँग्रेस की आवाज़ नहीं मानी जानी चाहिए, और न मानी जा सकती है।"

"मैं तो समझता हूँ कि मुसलमान ईसाई आदि को भी सङ्गठन का विरोध नहीं करना चाहिए।"

"निस्सन्देह, यह विरोध बहुत कुछ अज्ञानता और अदूर-दर्शिता पर अवलम्बित है। वास्तव में हमारा और उनका नफ़ा नुक्सान एक जैसा है। हम सब एक ही नौका पर सवार हैं। हम और वे सब हम-वतन हैं। भारत को छोड़कर वे लोग भी अन्यत्र नहीं जा सकते। और न कहीं दूसरी जगह उनका गुज़ारा भी हो सकता है। हमारा उनका मरना-जीना एक ही साथ रहेगा। रही मुसलमान गुण्डों की शरारत और निरर्थक रगड़े-झगड़े की बात। ये तब तक ही हैं, जब तक हमारा सङ्गठन मज़बूत नहीं होता और आर्य्य-जाति बलशाली नहीं बनती। बस, इसके पश्चात् यह कलह-क्लेश कुछ नहीं रहेंगे और सब को सङ्गठन प्यारा लगेगा। बलवान के सभी मित्र होते और बन जाते हैं।"

× × × ×

हिन्दू-सङ्गठन का उद्देश क्या है? इसका उद्देश है मरती हुई हिन्दू जाति को जीवित करना, उसे सुदृढ़ और बलवती

बनाना, अछूतों और दलितों का उद्धार करना। सामाजिक अत्याचार नष्ट करना, तीर्थ स्थानों में होने वाले असंख्य पापों को नाश कर, उनका सुधार करना; महिलाओं की प्रतिष्ठा को सुरक्षित करना, और उनके अपमान करने वाले गुण्डों और आततायियों को समुचित दण्ड देना; पतित और लांछित बहिनों की रक्षा के निमित्त ऐसे संरक्षण-गृह बनवाना, जिनमें प्रवेश कर वे अपने जीवन को सदुपयोग कर सकें। शुद्धि को दिन-दूनी, और रात चौगुनी शक्ति से बढ़ाना; हिन्दुओं के हृदय में त्याग की पवित्र भावना को अधिक प्रबल कर उन्हें विश्व-प्रेम के पथ में प्रगतिशील करना। और हाँ, हिन्दुओं को उनके आत्म-स्वरूप की पहचान कराना।

कौन सा आत्म-स्वरूप ? हिन्दुत्व ! वह हिन्दुत्व, जिसकी विशाल एवं गौरव पूर्ण दुर्ग की रक्षा के लिए सिन्ध और उत्तर पश्चिमीय सीमा के हिन्दू चार सौ वर्ष तक मुसलमानों से लड़ते रहे। वह हिन्दुत्व, जिसके नशे ने दक्षिण भारत के विजयानगर के वीर हिन्दुओं को मुसलमानों के विरुद्ध ढाई सौ वर्ष तक खड़ा कर रक्खा था, वह हिन्दुत्व, जिसके अमृत ने सती साध्वी पद्मावती को धधकती हुई चिता में जलने के लिए वाध्य किया था, वह हिन्दुत्व, जिसकी भग्न दीवारों की लाज रखने के लिए उदयपुर और चित्तौर की सहस्रों माताओं और बहिनों ने न जाने कितनी बार जौहर के अग्नि के प्रज्वलित और प्रलयकारी शिखाओं में हँसते-हँसते अपने को निछावर

कर दिया था, वह हिन्दुत्व, जिसकी मर्यादा को कलङ्क-कालिमा से बचाने के लिए राजपूताने की वीर प्रसवनी भूमि ने अपने लाखों लालों को हँसते हँसते वार दिया था। वह हिन्दुत्व, जिसकी अमर प्रतिष्ठा के लिए बप्पा रावल, और हमीर; राणा साँगा और राणा प्रताप, जयमल और फत्ता तथा उनके अनुयायियों के रक्त से राजपूताने की भूमि का प्रत्येक कण रंगा हुआ है; वह हिन्दुत्व, जिसकी लाज रखने के लिए गुरु अर्जुन देव और हक़ीक़त राय को मृत्यु से अठखेलियाँ करनी पड़ीं थीं, और वह हिन्दुत्व, जिसके जीवन मन्त्र से प्रभावित होकर गुरु गोविन्द, शिवा जी, और बन्दा बैरागी ने अपने हाथों में साम्राज्य स्थापित करने वाली तलवारें उठाई थीं। वही हिन्दुत्व जब तक भारत के तेईस करोड़ हिन्दुओं में जाग्रत होकर एक व्यक्ति का रूप धारण नहीं कर लेता, तब तक कदाचित् सङ्गठन का वास्तविक स्वरूप लोगों की समझ में कम आयगा। पर स्मरण रहे, सङ्गठन है माया का अवतार। यह विरोधियों के लिये दुर्गा और महाकाली है और प्रेमियों तथा उपासकों के लिए लक्ष्मी और सरस्वती है। सङ्गठन शक्ति है। दुनियाँ में शक्ति का ही साम्राज्य है। कौन है, जो शक्ति की उपासना किसी न किसी रूप में नहीं करता ? शक्ति जीवन है, अमृत है। शक्ति प्रेम करना और कराना सिखाती है। सङ्गठन के प्रेमियों को सभी के साथ प्रेम करना चाहिए—सभी को अपनाना चाहिए। उनका कोई विरोधी नहीं हो सकता। उनके साथ कोई विरोध रख नहीं सकता, निभा नही सकता।

शक्ति प्रेम की सहचारी और सौभाग्य की जननी है।

卐 卐 卐 卐

क्रोध

यह अन्धेर ! यह लूट मार ! ऐसी नादिरशाही। गुण्डों का ऐसा निरङ्कुश राज्य ! देवियों पर आक्रमण !! ओह ! ऐसा साहस ! यह अराजकता ! क्या सुव्यवस्था करने वाला शासन नहीं रहा ? हो, या न हो, पर हमें उसे दोषी ठहराना ठीक नहीं है। हम अपना घर खुद नहीं बचा सकते, तो दूसरों का क्या दोष ? स्वयं हमारी भुजाओं में जब अपनी बहू-बेटियों की मान-मर्यादा की रक्षा करने की शक्ति नहीं, तो औरों को दोषी ठहराना व्यर्थ ही है। यदि हम अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए आप ही तुल जाएँ, तो कौन हमारा अपमान कर सकता है ? जिस दिन हम आत्म-गौरव की भावनाओं

से एक बार सचेष्ट होजाएँगे, उस समय संसार की कोई शक्ति हमारा सामना नहीं कर सकती। पर ऐसा होगा क्यों? हम बे-ग़ैरत हैं, ज़लील हैं; कमज़ोर और अयोग्य हैं। हम पिटते हैं, मार खाते हैं, पर सचेत नहीं होते, सावधान नहीं होते, आँख नहीं खोलते। गुण्डे अत्याचार करते हैं, उन्हें दमन करने का प्रबन्ध नहीं होता। इन आततायियों और अत्याचारियों का हौसला कौन बढ़ाता है? कौन इन्हें अन्याय और अत्याचार करने का अवसर देता है? कहना होगा, हम और केवल हम हीं। बहू-बेटियों पर आए दिन घृणित से घृणित अत्याचार हों, और उनके भीरु डरपोक सम्बन्धी आँखों से देखते रहें। छिः कायरो, बुज़दिलो! क्या तुम्हारी आँख का पानी बिलकुल मर गया है? पानी क्यों मरा, तुम स्वयं ही क्यों न मर गये? भारत-वर्ष को तुम जैसे नपुंसकों की आवश्यकता नहीं। भगवान कृष्ण ने ऐसे ही कायरों को कुरुक्षेत्र की रणभूमि में डाँट बताई थी। अर्जुन को ऐसी ही कायरता पर धिक्कारा गया था।

तुम शान्ति के उपासक बनते हो। बात-बात में शान्ति, शान्ति चिल्लाते हो। यह झूठी शान्ति, शान्ति नहीं है—मृत्यु है, नीच और जघन्य मृत्यु है, प्रलयकारी मृत्यु है। इस शान्ति ने तुम्हें अकर्मण्य बना दिया है। तुम्हारी झूठी और असामयिक दया तथा अनिष्टकारी अहिंसा तुम्हें खा गई और आए दिन तुम्हारा अस्तित्व मिटा रही हैं। पर तुम भूले हुए हो। उसे बड़ी पुण्य और वीरता का काम समझ रहे हो। पाप जब पुण्य,

अधर्म जब धर्म का रूप धारण कर लेता है, तब असाध्य दशा होजाती है। हम से धर्माधर्म, पुण्य-पाप का विवेक जाता रहा। हम क्रोध को पाप का मूल समझते हैं। क्रोध पाप नहीं है। पाप है समय पर क्रोध न करना, भृकुटी न चढ़ाना, आँख न दिखाना, आततायियों और गुण्डों को दण्ड न देना तथा ज़ालिमों और हत्यारों से दुर्बलों और असाहयों की रक्षा न करना। क्रोध करो, पर क्रोध में आकर पाप न करो। सृष्टि के निर्माण और व्यवस्था में जहाँ ब्रह्मा और विष्णु की आवश्यकता है, वहाँ रुद्र की भी परमावश्यकता है। संसार के कल्याण के लिए शैव और रौद्र दोनों भावों की ज़रूरत है। काम, क्रोध, लोभ, मोह की व्यर्थ सृष्टि नहीं हुई। ये किसी के शत्रु नहीं हैं। हाँ, इनके अनुचित और असामयिक प्रयोग से भले ही किसी का अकल्याण होजाय। पर इसमें इनका दोष नहीं है। दोष है, अज्ञानी और अविवेकी मनुष्य का। संसार-हित के लिए लक्ष्मी और दुर्गा दोनों की ज़रूरत है। सती पतिव्रता अपने पति को रति के समान सुख देती है, पर अन्य कामी और लम्पट पुरुष के सामने सर्पिणी की तरह क्रुद्ध होने से नहीं चूकती। क्रोध से पुरुष के पुरुषत्व और स्त्री के स्त्रीत्व की रक्षा और परीक्षा होती है। जो लोग क्रोध करना नहीं जानते, वह मनुष्य नहीं है। क्रोध मनुष्य का अत्यन्त आवश्यक और परमोपयोगी गुण है। पर क्रोध सात्विक और समय पर होना चाहिए। समय पर क्रोध करना वीरता और न करना कायरता है।

आज भारत का निरादर हो रहा है। हम चुप हैं, शान्त हैं, क्या यह शान्ति पाठ पढ़ने का समय है? क्या यह क्रोध करने का अवसर नहीं? क्या इस समय भी हमें रौद्र रूप धारण न करना चाहिए? क्या ऐसे मौक़े पर कोरी शान्ति पाठ से हमें सुख और शान्ति प्राप्त हो जायगी? कदापि नहीं। पर हाय! किस से कहा जाय? हम तो एक दम मर गये हैं। हम चेतना जानते ही नहीं हैं। एक–दो–तीन–चार नहीं, पचासों घटनाएँ नित्य होती रहती हैं, पर हम नहीं चेतते, नहीं सावधान होते, ज़रा हरक़त नहीं करते। एक दम बेजान से होगए हैं! उफ़! कायरो! यह संसार तुम्हारे रहने योग्य नहीं। अच्छा होता, यदि इसमें तुम्हारा अस्तित्व रहता ही नहीं। ऐसे कुपूतों से भारत माता की गोद ख़ाली रहना ही भला है।

कन्याओं का धर्म बचाना, देवियों के सतीत्व की रक्षा करना, नन्हें-नन्हें बिलखते हुए बच्चों को अपनी माताओं की गोद से विलग न होने देना ही तो धर्म है। यही तो मज़हब की तालीम है। यदि तुम यह नहीं कर सके, अथवा नहीं कर सकते, तो आज से अपने को धर्मात्मा या मोमिन कहना या कहलाना छोड़ दो। किसी पीर-पैग़म्बर, अवतार, सेण्ट (Saint) या महात्मा का अनुयायी भी न कहो। अगर तुम नास्तिक ही हो, तो भी अपने मानव धर्म की तो रक्षा करो। पापियो! तुम ने धर्म और मज़हब का नाश कर दिया। नहीं, मैं भूल गया! धर्म का नाश तुम क्या कर सकते हो? इस कठिन कार्य के लिए तुम्हारा

अस्तित्व—तुम्हारा व्यक्तित्व अत्यन्त तुच्छ है। इसका कोई भी नाश नहीं कर सकता। औरङ्गज़ेब जैसा प्रतापी बादशाह, पोप जैसा प्रभावशाली व्यक्ति, ईसामसीह के हत्यारे यहूदी शासक जैसे पराक्रम शाली राजा—ऐसे लोग भी धर्म के भिन्न-भिन्न पहलुओं का नाश न कर सके, तो तुम्हारे जैसे कीड़े यह कार्य किस भाँति सम्पन्न कर सकते हैं? हाँ, तुमने अपना सर्वनाश अवश्य कर लिया। हम मानते हैं, सहिष्णुता बड़ी चीज़ है। यह धर्म का एक अङ्ग है। पर ऐसे समय पर सहिष्णुता कायरता होगी। धर्म सब कुछ सहन कर सकता है, पर अबलाओं का अपमान नहीं सह सकता। इस भारत में एक महिला के छेड़ने से महाभारत हो गया। अरे, स्त्रियों और बच्चों पर अत्याचार करने वालों को प्राण-दण्ड से भी यदि कोई कठोर दण्ड हो तो दो और ज़रूर दो। यह चुप रहने और एक दूसरे का मुँह देखने का समय नहीं है। यह ज़ुल्म कोई कब तक बरदाश्त करेगा? हिन्दू धर्म और प्रत्येक सच्चा धर्म सदा से देवियों के मान की रक्षा करता रहा है और अब भी करेगा। हाँ, कायरों के भरोसे नहीं, वरन् अपने बाहु-बल, अपने आत्म-सम्मान, अपने आत्म-गौरव और अपने उत्सर्ग के बल पर। इस आर्यावर्त में, राम और कृष्ण की पवित्र जन्म-भूमि में, राणा साँगा तथा प्रताप और शिवा जी प्रभृति शूर वीरों की वीर-भूमि में ऐसा अन्याय और अत्याचार नहीं हो सकता, नहीं देखा जा सकता, और कभी भी नहीं देखा जायगा।

वैराग्य
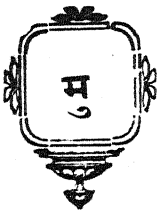
झे संसार का कोई पदार्थ नहीं चाहिये । हां, शरीर भी न चाहिये । यह शरीर और इस शरीर के सारे सम्बन्ध तथा सम्बन्धियों की भी मुझे ज़रूरत नहीं । यह सब अनित्य और नाशवान् हैं । मैं चाहता हूं, वह जो सत्य और अविनाशी, अमिट और अनश्वर, अमर और नित्य है ।

तो क्या मनुष्य शरीर कुछ नहीं है ? मनुष्य जीवन बिलकुल तत्वहीन और निस्सार है ? निश्चय ही वह कुछ नहीं है । यह एकदम क्षणिक और क्षण-भङ्गुर है । फूल की सुगन्ध से भी अस्थिर, जल-बुदबुदे से कम टिकाऊ । पलक मारने में समय

लगता है; पर इसे विलीन होते देर नहीं होती। हा! इसी के लिये–इतने ही के लिये–और इतनी ही देर के लिये–ये सारे जञ्जाल, सारी आपदायें! यह मार, वह ढार। यह करो, वह करो। इससे बैर, उस से मित्रता, यह अपना, वह पराया। इस को सता, उसे प्यार कर। इस पर मोह, उस पर अत्याचार। इसे लूटो, उसे मारो। कुछ ठिकाना है। क्या ठिकाना है? मनुष्य को इस छोटे और तुच्छ जीवन के लिये क्या-क्या करना होता और वह क्या–क्या करता रहता है? यह पाप–पुण्य, धर्माधर्म कुछ नहीं देखता, मन–माना जैसा चाहता है, करता है—विवेक से भिन्न होकर; विचार से हीन होकर।

क्या उसे कुछ सूझता नहीं? दुनियाँ और दुनियाँ के कारनामे तो सूर्य के प्रकाश की भांति प्रत्यक्ष हैं, पर मनुष्य स्वतः मोह जाल में फँसा रहता है। पुत्र-कलत्र, माँ-बाप, भाई-बहिन, का प्रेम-पाश उसे नहीं छोड़ता। धन-धान्य, मान-प्रतिष्ठा आदि समस्त मायावी प्रलोभन के भोग उसे घेरे रहते हैं। हाय! मनुष्य की कितनी दयनीय दशा है! यहाँ कोई किसी का नहीं। यह सब धोखे की टट्टी है। जगत के जितने नाते हैं, वे सब झूठे और दुखदायी हैं। यहाँ जितने मनुष्य और पशु-पक्षी हैं, वे सब दुख के फेर में फँसे हैं। कोई सुखी नहीं, जो एकाध सुखी जान भी पड़ता है, वह केवल बाह्यरूप से। अन्तःकरण तो उसका भी काँच की भट्टी के समान धधक रहा है।

लोग इस संसार को आनन्द भवन कहते हैं। समझ में

नहीं आता कि कोई क्षण भर के सुख के लिये इस दुखी जग को किस प्रकार सुख-धाम कहने का साहस करता तथा साँसारिक क्रीड़ाओं में निरत हो सकता है? यह संसार तो नितान्त निस्सार और दुख का घर है। मानव-शरीर जरा, व्याधि और मृत्यु से आवद्ध है। हाथ की अञ्जलि में से जैसे पानी निकलता रहता है, वैसे ही हमारी आयु भी निरन्तर क्षीण होती रहती है। जिस आयु से सुख भोगा जाता है, जब उसका यह हाल है, तो साँसारिक सुख का क्या कहना-सुनना? यह तो ओस-कण की भांति शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाली वस्तु है। मनुष्य को साँसारिक भोग-विलासों से अपने मन को हटाकर सत्य और शिव को प्राप्त करना चाहिये।

मैं अब ब्रह्मानन्द की जिज्ञासा में ही निरत रहूँगा। संसार के अनित्य और अस्थिर वैभव-समूह! अब इस प्रलोभन के आवरण को मुझ से दूर करो! जीवन को प्रवञ्चित करने वाली ओ जगत की भ्रामक मरीच-मालिकाएँ। दूर ही रहो........
मैं तुम्हारे प्रलोभनों में मानव-जीवन के सार तत्वों को नष्ट नहीं करूँगा। ये प्रलोभन तो सर्प-विष से भी अधिक विषैले और पाप से भी अधिक काले हैं। ये तो मेरी आत्मा को सदा के लिये—अनन्त काल के लिये बन्दी बना लेंगे। फिर मेरा उद्धार कैसे होगा? फिर मैं अपनी छवि आप ही आप किस भाँति निरख सकूँगा और किस भाँति मैं अपने व्यक्तित्व में असीम का आह्वान कर सकूँगा?

तो क्या उस जिज्ञासा के लिए मुझे संसार छोड़ना पड़ेगा ? घर-गृहस्थी त्याग कर सन्यास लेना होगा ? कपड़े रँगने होंगे ? नहीं यह आवश्यक नहीं है, इनमें से एक भी करना न होगा। संसार परित्याग करने को वस्तु नहीं है, और तुम इसे छोड़ भी नहीं सकते, हाँ, तुम एक स्थान छोड़कर, एक वातावरण से हटकर, दूसरे जगह जा सकते हो। परन्तु तुम्हारे साथ कोई न कोई संसार छोटा या बड़ा रहेगा ही। किसी न किसी वायुमण्डल में तुम्हें वास करना ही होगा। घर-गृहस्थ, शरीर और शरीर के सारे सम्बन्धी चाहे कैसे ही हों और तुम्हें चाहे उनका कैसा ही भला-बुरा अनुभव हो, और तुम उनसे कितना ही प्रसन्न या अप्रसन्न हो, पर उनसे तुम्हें सहसा छुटकारा नहीं मिल सकता--मिलेगा भी नहीं। क्यों ? इस लिए कि वे तुम्हारे विकास; तुम्हारे शुभ के लिए आवश्यक और अनिवार्य हैं। तुम्हारा भला, तुम्हारा कल्याण, उसी के द्वारा होगा। और फिर यह भी न सही, तो उस में तुम्हारा त्याग ही क्या होगा । जिस घर-द्वार, स्त्री-पुत्र, राज-पाट और बन्धु-बान्धव को तुम अपना समझ त्याग करते हो, वह तुम्हारे हैं ही कहाँ ? वे तो अनित्य की भाँति तुम्हें प्रलोभन की सृष्टि में छोड़कर तुम्हारी आत्मा को भूल-भुलैयाँ में डालने वाले हैं। त्याग तो अपनी वस्तु का होता है। रही शरीर की बात ! वह कितना ही क्षणभङ्गुर हो, कैसा ही अविश्वास के योग्य हो, पर होगा भला उसी के द्वारा।

वह मनुष्य के पतन के लिए नहीं, बल्कि उसके विकास के लिए ही उसे प्रदान किया गया है। उसी के द्वारा ही जप-तप, धर्म-कर्म आदि पुण्य कर्म किए जाते हैं। यदि उस से किसी का अहित ही होता है, तो उसका दोष नहीं, वह तो जड़ और अचेतन है। उसका हिलाने-चलाने वाला कोई और है, और वह उसी के सङ्केत, तथा उसी के द्वारा सब व्यवहार करता है, तथा उसी से बनता और क़ायम होता है।

वह क्या है? मनुष्य का चित्त, जिस पर उसके भले-बुरे संस्कार पड़ते, और वासना बनती है। जब तक चित्त का परित्याग न होगा; वासना न मिटेगी, संस्कार न दूर होंगे; तब तक मनुष्य को जन्म लेना और शरीर धारण करना ही होगा। त्याग और वैराग्य के लिए किसी को छोड़ने और परित्याग करने की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है केवल अपने दृष्टि-कोण को बदलने की। अभी तुम संसार को राग–दृष्टि या भोग—बुद्धि से देखते हो, फिर उसे त्याग—भाव से देखना होगा। बस, त्याग और वैराग्य का यही रहस्य है। रामचन्द्र और वशिष्ठ जी को गृहस्थ में ही वैराग्य हुआ था। जनक महाराज गृहस्थाश्रम में ही सच्चे त्यागी और विदेह थे। वह गृहस्थ में क्या नहीं करते रहते थे? परन्तु उनकी आसक्ति या ममता किसी पदार्थ में नहीं थी। हमें संसार में तो रहना चाहिए, पर उस में लिप्त होकर नहीं। कमल पानी में रहते हुए भी उस के दोष, कर्म, प्रभाव से निर्लिप्त रहता है। हमें

भी यहाँ—संसार के समस्त पदार्थों को भोगते हुए भी, न भोगना चाहिए। विरक्त पुरुष में समदृष्टि आजाती है। वह किसी का बुरा नहीं देखता। वह वस्तु की यथार्थता जानकर प्रत्येक के अन्दर अपनी सी आत्मा का स्वरूप पाता है। उसका न कोई शत्रु होता है, न मित्र। उसे सब अपने ही दिखाई पड़ते हैं। वह अपने आत्म-दर्शन में ही तृप्त रहता है। वह अपने सारे जीवन को भगवान के नियन्त्रण पर छोड़ देता है। इस प्रकार वह आत्मा से निर्दोष बना रहता है। इसे दान, पुण्य आदि कर्मों के फलों से कोई प्रयोजन नहीं रहता। राग द्वेष ही संसार के दुख-सुख के कारण होते हैं। शुद्ध, पवित्र विरक्ति में संसार के कर्मों द्वारा उत्पन्न-राग-द्वेष अपना प्रभाव नहीं डालते। वैराग्य ज्ञान है, परमानन्द है। जीते-जी मरने का आनन्द और मरते-मरते जीने का सुख विरक्त को ही प्राप्त होता और हो सकता है।

अविद्या

बड़ा विद्वान् पण्डित हूं। वेद शास्त्र आदि समस्त धार्मिक ग्रन्थ मुझे कण्ठाग्र हैं। मैंने अनेक गुरु-कुलों और ब्रह्मविद्यालयों में अध्यापन का कार्य किया है। उपदेश और व्याख्यान देना तो मेरा पैतृक व्यवसाय ही जैसा होगया है। व्यास-गद्दी और समाज की दार्शनिक वेदी पर जब मैं अपने गहरे और तात्विक विचार प्रकट करता हूँ, तो लोग मुझे शङ्कर और दयानन्द समझते हैं और मैं भी उन्हें वैसे ही समझने का अवसर देता हूँ।”

“तुम निस्सन्देह बड़े प्रकाण्ड विद्वान हो। तुमने मिलटन

और शेक्सपियर देख डाले, कालिदास और भवभूति को अच्छी तरह समझ लिया। डार्विन और कैन्ट के सिद्धान्तों पर तुम बड़ी अच्छी सम्मति दे सकते हो। प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों पर तुम्हारा अच्छा अधिकार है। हाँ, शरीर विज्ञान भी तो तुम जानते ही हो। भूगोल, साहित्य, इतिहास तथा विज्ञान में तुम्हारी अच्छी गति है। मनोविज्ञान के तो तुम पण्डित ही ठहरे। अर्थशास्त्र और उपनिषदों का भी तुमने क़ाफ़ी मनन किया है। संसार का व्यवहारिक तथा व्यापारिक ज्ञान भी तुम्हारा बुरा नहीं है। तुमने इन सब विषयों का ज्ञान प्राप्त कर देश और जाति की अच्छी सेवा की है। तुम जैसे योग्य व्यक्तियों पर ही समाज को अभिमान होता है। मानव-जीवन ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही है। देव दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर भी यदि कोई मूर्ख और अज्ञानी रहे, तो उसके समान हत-भाग्य हो ही कौन सकता है? परन्तु क्या तुमने अपना भी स्वाध्याय किया है? अपने को भी पहचाना है? अपने आत्म-स्वरूप का भी दर्शन किया है? क्या तुमने यह भी जानने का यत्न किया है कि तुम कौन हो, और तुम्हारा इस संसार में आना कैसे और क्यों हुआ? तुम यहाँ कभी पहले भी आए थे, यहाँ से कहाँ जाओगे और क्या यहाँ फिर भी कभी आओगे? यदि नहीं आओगे तो कहाँ और कैसे रहोगे?"

"हाँ, मैंने इन प्रश्नों पर कभी विचार नहीं किया। मैंने सब कुछ देखा-भाला, जाना-सुना और जानने की इच्छा भी

की, पर स्वतः अपने को जानने की कोशिश नहीं की। उपनिषदों में आत्मा पर किया गया विचार मैंने देखा है, दर्शनों में भी थोड़ा बहुत इस विषय पर अध्ययन किया है, परन्तु मैंने इसे दूसरों को उपदेश देने और कथा-वार्ता सुनाने तक ही परिमित रखना ज़रूरी समझा। मैं क्या हूँ, मेरा रूप और मेरा देश कैसा और कहां है? इस विषय पर मैंने कभी ध्यान नहीं दिया। क्यों? क्या समय नहीं मिला? नहीं मैंने इसकी ज़रूरत ही नहीं महसूस की।"

हाय! संसार कैसा विचित्र स्थल है। यहाँ प्रत्येकमनुष्य दूसरे के सम्मुख अपनी महानता प्रकट करने के निमित्त ही ज्ञानी होना चाहता है तथा होता है, पर वह अपने को—अपनी आत्मा और परमात्मा को—अपनी परिमित जीवन को—कभी जानने का यत्न नहीं करता। अपने सम्बन्ध में तो वह पूर्णतः अज्ञानान्धकार में पड़ा रहता है। संसार की पुस्तकों का तो वह बहुत निपुण पण्डित बनता है, पर इन सारे अध्ययन के पश्चात् वह अपना आत्म-स्वरूप भी नहीं पहचान सकता। और इस प्रकार अपने लिये मूर्ख और दूसरों के लिऐ पण्डित बना हुआ संसार को और संसार के साथ अपने को भी भुलावे में डालता है। मानव-जीवन का यह एक चक्रव्यूह है, जिसके भीतर मनुष्य किसी भाँति प्रवेश तो कर सकता है, परन्तु उस से बाहर नहीं निकल सकता। मनुष्य इसी स्थल पर भूल करता और मारा जाता है। यहीं से उसकी विचित्रता और

विचित्र पाण्डित्य का रहस्योद्घाटन होता है। वह औरों के लिए और होता है और अपने लिए और। यही एक विचित्रता है, जिसने संसार को एक भूल-भुलैयाँ सा बना रक्खा है।

विद्या बुरी वस्तु नहीं है। इसे पढ़ो, खूब पढ़ो, और जीवन पर्यन्त पढ़ो, परन्तु अपना तथा अपने आत्म स्वरूप का स्वाध्याय भी जारी रक्खो। अपने को न भूलो। मनुष्य के अध्ययन के लिए मनुष्य ही सर्वोत्तम विषय है। संसार की सारी विद्याएँ और सारी कलाएँ मनुष्य के लिए निश्चय ही आवश्यक और उपयोगी हैं। परन्तु उसका अपना ज्ञान सब से अधिक ज़रूरी और लाभदायक है। इस विद्या से जहाँ औरों का उपकार होगा, उन्हें शान्ति मिलेगी, वहाँ अपने को भी जैसी शान्ति और सुख प्राप्त होगी, वह अन्य किसी प्रकार से दुर्लभ है। देश और जाति का यथेष्ट कल्याण इसी आत्म-विद्या से ही हो सकता है, और भारतवर्ष की विशेषता भी इसी आत्म-ज्ञान और आत्म-विद्या पर निर्भर है। संसार में शुष्क और थोथे ज्ञान प्राप्ति के पीछे अपना अमूल्य एवं अनुपम जीवन खोने वाले बहुत हैं परन्तु भगवान् बुद्ध और दयानन्द की भाँति जीवन के इन विकट पहेलियों का यथार्थ समाधान संसार के सामने रखने वाले कितने हैं? क्या इस घोर नास्तिकता के मायावी युग में कोई धर्मवीर सम्मुख आता है? संसार में फैली हुई अविद्या का नाश करने के लिए आत्म-ज्ञानी और तत्व-दर्शी मनुष्यों के प्रादुर्भाव की आवश्यकता—नितान्त आवश्यक है।

पुस्तकों का पाठ करना तथा अनेक भाषाओं का ज्ञाता होना, विद्या का अन्तिम ध्येय नहीं। यह तो उस अन्तिम ध्येय का साधन मात्र है। अन्तिम ध्येय तो अपने जीवन में विद्या की व्यापकता और विद्या की व्यापकता में अपने जीवन को सदा के लिए विलीन कर देना है। यही आत्म-ज्ञान है और इसी में तत्व-दर्शन की सारी सूक्ष्मता सन्निहित है। इसके विपरीत अविद्या —एकदम अविद्या है।

पूजा

आप भले ही न दें, परन्तु आर्य-समाज ने देवियों को निस्सन्देह–देश के इस पतित और स्वार्थपूर्ण अवस्था में भी बहुत स्वतन्त्रता दी है। पर मैं समझता हूँ, यह स्वतन्त्रता भी सागर में एक जल–बूँद के बराबर है। आदर्श स्वतन्त्रता, जिस पदार्थ का नाम है, इसका तो एक मन्द आभास भी हमारे सम्मुख नहीं। और शायद आप जैसे उदार महानुभावों के भी मस्तिष्क में उसकी कल्पना सहज ही नहीं हो सकती। मैं तो आर्य-समाज के पवित्र उद्योग की सराहना

उस समय करूँगा, जब वह देवियों के सामने सत्य-स्वतन्त्रता का वह उच्चतम आदर्श रक्खेगा, जो वैदिक-काल में ऋषि-महर्षियों तथा आधुनिक समय के आदर्श सुधारक भगवान दयानन्द के हृदय और मस्तिष्क में था; और जिसे उन्होंने समय-समय पर अपने अमृतमयी वाणी में प्रकट भी किया है।"

"सिद्धान्त वाद में आप तो इस साधारण वायु-मण्डल से दूर-बहुत दूर—एक दूसरे लोक में ही चले गए। समाज के कामों से किसे सहानुभूति नहीं है? आर्य-समाज तो इस समय इन कामों में सारे देश और जाति के लिए आदर्श स्वरूप है। उसके महान उपकारों से कौन नहीं दबा हुआ है। यह समाज के ही भगीरथ प्रयत्न का फल है कि, ३०।४० वर्ष के अन्तर्गत देश में एक नवीन युग का प्रवेश हो गया है; नई जागृति पैदा हो गई है। मैं इस कार्य के लिए समाज की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करता हूँ, पर हाँ, इतना ज़रूर कहूँगा कि देश की नाज़ुक परिस्थिति को देख कर ही हमें चलना चाहिए। आर्य-जाति अभी कमज़ोर है। उसकी भुजाओं में अपनी बहू-बेटियों की मान-रक्षा की शक्ति नहीं है। योरुपियन महिलाएँ रोज़ाना हमारे आपके सामने स्वतन्त्रता पूर्वक हर जगह घूमती-फिरती हैं, पर मजाल है, कोई उनकी ओर आँख उठा सके। पर हमारी बहूँ-बेटियों ने ज़रा घर से बाहर पैर रक्खा और वे तमाशा बन गईं। क्या यही सभ्यता है? क्या इसी को मातृ-शक्ति का सम्मान कहते हैं? हा! कितनी बुरी अवस्था है?

पर यह दशा तो हिन्दू-मुस्लिम समस्या के पहले की थी, अब जो भयावह स्थिति है, उसका तो कहना ही क्या? उफ! एकदम भयानक, दृष्टि-कुदृष्टि दूर रही; छूरा! बलात्कार! अपमान!! अपहरण!! एक दो सङ्कट थोड़े हो हैं; कोई कहाँ तक गिनावे? क्या आप इन विकट समस्याओं पर भी कुछ विचार करेंगे?"

"हाँ, करेंगे और करते भी हैं। पर क्या इसका इलाज है क़ैद, हवालात, काल कोठरी? स्वच्छ और निर्मल आकाश के दर्शन से वञ्चित रखना? कभी नहीं। यह तो औषधि नहीं वरन् बीमारी है, अत्याचार है। मुसलमान गुण्डों ने तो अब कुछ दिनों से इस प्रकार सिर उठाया है, गुस्ताख़ी शुरू की है; पर आप ने तो देवियों को न जाने कब से जन्म भर के लिये क़ैदी बना रक्खा है। हा! ज़ुल्म और उसका यह समर्थन, पाप और उसका इस प्रकार का युक्ति-युक्त मण्डन। दुनियाँ से जैसे न्याय उठ गया। पुरुषों की हत्या हो, मारे जायँ; पर उनके लिये कोई पर्दा नहीं, कोई क़ैद नहीं; कोई हवालात नहीं, वे अब भी वैसे ही स्वतन्त्र हैं, जैसे पहले थे। पर देवियों को ताज़ी हवा न लगने पाए। क्यों? डीठ लग जायगी; कोई टोना कर देगा, रास्ता काट जायगा! हाय! कैसी बुरी अवस्था है। स्त्रियों को भी पुरुषों की भाँति हमारी आपकी तरह हाथ-पाँव होते हैं; हृदय और मस्तिष्क होता है; बुद्धि और ज्ञान तन्तू होते हैं; भाव और भावनाएँ होती हैं। वे पुरुषों की ही भाँति सोच विचार भी सकती हैं, बल्कि उन से भी अधिक।

परन्तु वे निर्जीव प्रतिमा की भाँति, मिट्टी के ढेर की तरह रक्खी जाती हैं। वे स्वतन्त्रता से कुछ करने-धरने नहीं पातीं। उन्हें ज्ञान और बुद्धि का प्रकाश नहीं फलता। इन्हें हर जगह गठरी सी बन्धी और दबी रहनी चाहिये। उनके लिए फैलना और बढ़ना घातक है। उन्हें दबे रहने और दबाए रखने में पुरुष समाज, नहीं नहीं, मानव जाति का भला और कल्याण है। उन्हें मनुष्य श्रेणी में रखना मनुष्यत्व को कलंकित करना है। वे मनुष्य सन्तति की जननी भले ही हों, पर मनुष्य नहीं हैं। नहीं, नहीं, मनुष्य ही क्यों? वे तो पशु–पक्षी भी नहीं हैं पालतू पशु-पक्षी को भी हवा खिलाई जाती है। उन्हें बाहर घूमने–फिरने को छोड़ दिया जाता है, पर देवियों को यह भी अधिकार नहीं। क्यों?

कहा जाता है, आर्य्य जाति निर्बल हैं। वह अपनी बहू-बेटियों की रक्षा नहीं कर सकती। ठीक है, पर यह भी कोई कह सकता है कि अब जब तक आर्य-जाति बलशाली नहीं हो जाती, देवियों का साँस लेना बन्द किया जाता है। उनको साँस लेने का अधिकार नहीं। क्यों? अधिकार देने की बात दूसरे के हाथ में है और वे उसे देना नहीं चाहते। उन्हें न देने के लिए कोई न कोई बहाना चाहिए।"

"नहीं, यह बात नहीं है। स्त्रियाँ अधिकार—रक्षा नहीं कर सकती।"

"हाँ! यह भी सत्य है। देवियाँ अबला होती ही हैं। उन्हें

अधिकार—रक्षा में बड़े बड़े दुख उठाने पड़ेंगे। बड़ी बड़ी मुसीबतें झेलनी पड़ेंगी। परन्तु उसकी चिन्ता आप न कीजिए। स्वाधीनता और पराधीनता के दुखों में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। स्वाधीनता की तकलीफ़ भी अमृत है; जीवन है; और पराधीनता का सुख भी विष है—मृत्यु है। अबोध और कमज़ोर बालक गिर पड़कर ही चलने में समर्थ होता है। जो गिरने और ठोकर खाने के भय से ज़मीन पर पैर रखते हुए घबराता है, वह कभी खड़ा हो ही नहीं सकता। पर स्मरण रहे, देवियाँ अबोध और कमज़ोर बालक नहीं हैं। आपने शायद इन्हें बिलकुल अबला ही समझ रखा है, ये अबला नहीं हैं। ये स्वयं शक्ति हैं—शक्ति की भण्डार हैं, और दूसरों को शक्ति प्रदान करती, और शक्तिशाली बनाती है। ये सती हैं। सती के अभिशाप से, सती की तीखी और क्रोध भरी चितवन से, गुण्डों, आततायियों का एकदम नाश हो जायगा। क्या आपको पता नहीं, सती सीता के अपहरण करने से रावण ने अपना आप सत्यानाश कर लिया? क्या आप जानते नहीं, देवी द्रौपदी के तिरस्कार से कुरुवंश का दीपक सदा के लिए बुझ गया? भाई, छोड़ दो ऐसे पोच विचार, कातर भाव। माँ दुर्गा का जन्म ही दुष्टों के संहार के लिए हुआ था। इन्हीं देवियों में, इसी मात्र शक्ति में, फिर कोई दुर्गा का अवतार धारण कर लेंगी, फिर कर्म देवी, कृष्णकुमारी, राजबाई, लक्ष्मीबाई दुर्गावती प्रभृति तेजस्वी वीराङ्गनाएं उत्पन्न हो

जायँगी। भारत माता को अपनी पुत्रियों की आप चिन्ता है। आप अपना कर्तव्य पालन कीजिए। आप अपने को कमज़ोर समझते हैं। यह कमज़ोरी दूर कीजिए, पर दूसरों के अधिकारों को दबाइये नहीं। उदार बनिए और उदारता का व्यवहार कीजिए। अपना जातीय और धार्मिक रूप पहचानिए। आपको जातीय स्वरूप का ज्ञान नहीं। आर्य-जाति कमज़ोर नहीं है। वह इतनी ही बलशाली है, जितनी कोई भी शक्तिशाली जाति इस भू-खण्ड पर—इस पृथ्वी पर—विद्यमान् है।

देवियाँ पूजा के योग्य हैं। ये लक्ष्मी हैं; सरस्वती हैं; शक्ति हैं; महामाया हैं; जगज्जननी हैं। आर्य-जाति में, वैदिक-सभ्यता में, देवियों की पूजा, देवियों की उपासना सदा से होती आई है और तब तक होती रहेगी, जब तक यह जाति अपना सुन्दर और अमर अस्तित्व निर्माण करना चाहेगी। जो लोग माता भक्त नहीं है, जिनके हृदय में अपनी पत्नी, अपनी सहधर्म्मिणी के लिए पूजा और सम्मान के भाव नहीं हैं, वे मनुष्य नहीं हैं। उनसे मनुष्य जाति को कुछ आशा नहीं रखनी चाहिए। वह विश्वास के योग्य नहीं हो सकते। उनसे कुछ नहीं होगा। वे कुछ नहीं कर सकेंगे। ईश्वर—भक्ति; देश—सेवा, परोपकार, आत्मोद्धार आदि का चाहे वे जैसा आडम्बर रचें, पर उन्हें किसी में सफलता न होगी। मातृ-शक्ति का निरादर, बहिनों के प्रति उपेक्षा—भाव, बहू-बेटियों की ओर से उदासीनता, पत्नी का अपमान इत्यादि जातीय एवं

सामाजिक पापों के रहते हुए जातीय, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन का सुन्दर निर्माण कैसे हो सकेगा? जातीय और राष्ट्रीय दुर्ग की स्थायी नींव तो मातृ—जाति की परम उपासना के द्वारा ही दी जा सकती है। यह उपासना राष्ट्रों और जातियों के जीवन को निर्भीकता पूर्ण, अमर तथा अक्षुण्ण बनाती है।

आह !

हरे हरे ! कैसा अन्याय हो रहा है ? कहाँ ? जगह-जगह, देश-देश में, जहाँ पराधीनता के विषाक्त वायु-मण्डल में जातियाँ तथा राष्ट्र सिकक रहे हैं, जहाँ दासता के भयानक कीट देश अथवा राष्ट्र के हृदयों का रक्त सोख रहे हैं। वह पूर्व हो या पश्चिम, प्राचीन काल हो या अर्वाचीन, सर्वत्र यही दुखड़ा है, यही रोना है। न्याय के नाम पर फाँसी, जुल्म, काला पानी, कोडे की मार। उफ़ ! किस निर्दयता का व्यवहार है-! अमानुषिक-एक दम अमानुषिक ! सभ्यता के नाम पर कलङ्क ! न्याय के गले पर छुरी ! शान्ति की आड़ में बदला, खून, तिरस्कार, अत्याचार

और क्या-क्या नहीं ! कहाँ की बात कहते हो ? किसी ख़ास स्थान या प्रान्त की नहीं, किसी ख़ास देश की नहीं—सर्वत्र की, जहाँ-जहाँ पराधीनता का ताण्डव-नृत्य होता है।

हाय ! हमारी यह दशा होगई। हम कहीं के न रहे। हम एकदम अनाथ हो गये। दिन-दहाड़े यह लूट ! यह अत्याचार ! कोई देखने वाला नहीं, कोई सुनने वाला नहीं। धर्म का यह अनादर ! प्रजा में यह भेदभाव और पक्षपात। किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं। कोई कहाँ तक सन्तोष करे, पर न करे तो क्या करे ? जिन्हें हमारी रक्षा करनी है, वे ही हम से रूठे हुए हैं; उदासीन हैं। कोई कहाँ जाय ? हर जगह विपत्ति ! भाई-भाई का शत्रु, पड़ोसी-पड़ोसी का घातक ! किसी पर विश्वास नहीं, कोई विश्वासी नहीं। देखते नहीं, चारों ओर विद्रोह और अराजकता का वातावरण है। जैसे कोई राज्य ही नहीं, राजा ही नहीं, किसी प्रकार की व्यवस्था ही नहीं। भयङ्कर अराजकता सी छाई हुई है।

हा ! कैसी भयानक स्थिति है। हमारे बाल-बच्चे, हमारी बहू-बेटियाँ, हमारी स्त्रियाँ, हमारे घर—किसी की भी रक्षा करने की शक्ति हम में नहीं है। शक्ति ही नहीं, भाव भी नहीं हैं। हम केवल दूसरों की कृपा के भिक्षुक हैं। हाय ! कैसा अधः-पतन है। देखते जाओ, भोगते जाओ, मार खाओ, आबरू दो, पर चुप रहो, आँख बन्द कर लो, मुँह से शब्द न निकालो, आह न करो। ज़बान हिलाना पाप है, विद्रोह है। चोर डाकुओं

की तरह तुम्हारे भाइयों के साथ बर्ताव हो, कीड़े-मकोड़ों की नाईं तुम्हें ज़मीन पर रेंगना पड़े, पर तुम्हें यह सब सहना और सह कर चुप रहना होगा। ख़बरदार ! सावधान !! चूँ न करना। तुम्हारा जान व माल ख़तरे में हो, तुम्हारे घर डाका पड़े, तुम पर लोग आक्रमण करें, तुम्हारी जान के घातक तुम्हारे सिर चढ़ें, पर तुम्हें अपनी रक्षा के लिए अस्त्र रखने की आज्ञा नहीं। क्यों ? यह पूछने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं। तुम ग़ुलाम हो। तुम्हारी रक्षा, तुम्हारा अस्तित्व औरों की कृपा पर अवलम्बित है।

हमारे हाथ में शस्त्र नहीं है। हम बिलकुल नपुंसक होगये हैं। स्वत्व रक्षा करना क्या वस्तु है, यह हम एकदम भूल से गए हैं। हमारा व्यापार नष्ट हो चुका है। हम आज विदेशी माल पर निर्भर हैं, हमारी शिक्षा का प्रबन्ध संतोषजनक नहीं है, पर हम कुछ नहीं कर सकते। हमें सभी कामों में ग़ैरों का मुँह देखना और मोहताज रहना पड़ता है। बाहर से कोई आक्रमण हो, आक्रमणकारी हमें भेड़-बकरियों की तरह काट डाले, पर हम चूँ नहीं कर सकते। हमारा सर्वनाश हो जाय, हम सांस नहीं ले सकते। आह तक नहीं कर सकते ! क्यों ?

हम पराधीन हैं। हा, पराधीनता बड़ी बुरी बला है। यह जहाँ और जिसके पीछे पड़ती है, उसका सत्यानाश किए बिना नहीं छोड़ती। चीन ने पराधीनता में कैसे-कैसे दुख सहे। आयरलैण्ड की पराधीनता की करुण-कहानी कम हृदय-

विदारक नहीं है। मिश्र को इस पराधीनता में जैसी आपदाएँ उठानी पड़ी हैं, वह आज भी उसके इतिहास में कल की सी ताज़ी बातें मालूम होती हैं। वह आज भी पराधीनता से पूर्णतः मुक्त नही हो सका है। सभ्यताभिमानी अमरीका के भी हाथ अपनी पराधीन निग्रो जाति की अमानुषिक हत्याओं से रक्त-रञ्जित है और उन हत्याओं के स्मरण मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। हा ! पराधीनता ! तू कैसी और कितनी निर्दयी है ? तुझे इन अमानुषिक व्यवहारों से क्या कुछ भी दुख नहीं होता ? कुछ भी लज्जा नहीं आती ? स्वाधीनता के अभिमानी पराधीन प्राणियों के हृदय और हृदय के भावों को नहीं जानते, नहीं समझते और न जानने—समझने का यत्न ही करते हैं। क्योंकि उन्हें तो अपने स्वार्थ और आनन्द भोग से ही काम है।

भगवन् ! हम अपनी इस विवशता, इस शक्ति-हीनता की दशा में कर्त्तव्य-विमूढ़ होकर इस पराधीनता को ही अपना स्वाभाविक जीवन समझने लगे हैं। गुलामी और दासता की ज़ञ्जीर हमें बड़ी प्यारी और सुन्दर मालूम पड़ने लगी हैं। हम पिटते हैं, मार खाते हैं, पर हमारी आँख नहीं खुलतीं, हम सतर्क नहीं होते। हमारी चेतन-हीनता दूर नहीं होती। क्या हम ऐसे ही रहेंगे ? क्या हमारी पराधीनता का अन्त न होगा ? होगा क्यों नहीं ? होगा, अवश्य होगा, निश्चय ही होगा। पर आह करने—कराहने और हाय-हाय मचाने तथा त्राहिमाम् !

की तरह तुम्हारे भाइयों के साथ बर्ताव हो, कीड़े-मकोड़ों की नाईं तुम्हें ज़मीन पर रेंगना पड़े, पर तुम्हें यह सब सहना और सह कर चुप रहना होगा। ख़बरदार ! सावधान !! चूँ न करना। तुम्हारा जान व माल ख़तरे में हो, तुम्हारे घर डाका पड़े, तुम पर लोग आक्रमण करें, तुम्हारी जान के घातक तुम्हारे सिर चढ़ें, पर तुम्हें अपनी रक्षा के लिए अस्त्र रखने की आज्ञा नहीं। क्यों ? यह पूछने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं। तुम गुलाम हो। तुम्हारी रक्षा, तुम्हारा अस्तित्व औरों की कृपा पर अवलम्बित है।

हमारे हाथ में शस्त्र नहीं है। हम बिलकुल नपुंसक होगये हैं। स्वत्व रक्षा करना क्या वस्तु है, यह हम एकदम भूल से गए हैं। हमारा व्यापार नष्ट हो चुका है। हम आज विदेशी माल पर निर्भर हैं, हमारी शिक्षा का प्रबन्ध संतोषजनक नहीं है, पर हम कुछ नहीं कर सकते। हमें सभी कामों में ग़ैरों का मुँह देखना और मोहताज रहना पड़ता है। बाहर से कोई आक्रमण हो, आक्रमणकारी हमें भेड़-बकरियों की तरह काट डाले, पर हम चूँ नहीं कर सकते। हमारा सर्वनाश हो जाय, हम सांस नहीं ले सकते। आह तक नहीं कर सकते ! क्यों ?

हम पराधीन हैं। हा, पराधीनता बड़ी बुरी बला है। यह जहाँ और जिसके पीछे पड़ती है, उसका सत्यानाश किए बिना नहीं छोड़ती। चीन ने पराधीनता में कैसे-कैसे दुख सहे। आयरलैण्ड की पराधीनता की करुण-कहानी कम हृदय-

विदारक नहीं है। मिश्र को इस पराधीनता में जैसी आपदाएँ उठानी पड़ी हैं, वह आज भी उसके इतिहास में कल की सी ताज़ी बातें मालूम होती हैं। वह आज भी पराधीनता से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सका है। सभ्यताभिमानी अमरीका के भी हाथ अपनी पराधीन निग्रो जाति की अमानुषिक हत्याओं से रक्त-रञ्जित है और उन हत्याओं के स्मरण मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। हा! पराधीनता! तू कैसी और कितनी निर्दयी है? तुझे इन अमानुषिक व्यवहारों से क्या कुछ भी दुख नहीं होता? कुछ भी लज्जा नहीं आती? स्वाधीनता के अभिमानी पराधीन प्राणियों के हृदय और हृदय के भावों को नहीं जानते, नहीं समझते और न जानने—समझने का यत्न ही करते हैं। क्योंकि उन्हें तो अपने स्वार्थ और आनन्द भोग से ही काम है।

भगवन्! हम अपनी इस विवशता, इस शक्ति-हीनता की दशा में कर्त्तव्य-विमूढ़ होकर इस पराधीनता को ही अपना स्वाभाविक जीवन समझने लगे हैं। गुलामी और दासता की ज़ञ्जीर हमें बड़ी प्यारी और सुन्दर मालूम पड़ने लगी हैं। हम पिटते हैं, मार खाते हैं, पर हमारी आँख नहीं खुलतीं, हम सतर्क नहीं होते। हमारी चेतन-हीनता दूर नहीं होती। क्या हम ऐसे ही रहेंगे? क्या हमारी पराधीनता का अन्त न होगा? होगा क्यों नहीं? होगा, अवश्य होगा, निश्चय ही होगा। पर आह करने—कराहने और हाय-हाय मचाने तथा त्राहिमाम्!

त्राहिमाम् !! पुकारने से काम नहीं चलेगा। परम्पिता परमात्मा किसी का सर्वनाश नहीं चाहते, नहीं होने देते। वे सब पर दया करते हैं। पर उनकी सहायता का अधिकारी कौन है ? वही—जो स्वयं अपने कर्त्तव्य-कर्म को जानता और तदनुसार कार्य करता है ! अपने बल-भुजाओं तथा पौरुष से उठने का यत्न करता है और अपने ऊपर आई हुई आपत्तियों को दूर हटाने के लिए कटिबद्ध रहता है। उत्थान और पतन संसार के नियम हैं। 'आह' करना अपाहजों और लूले लङ्गड़ों का काम है, वीरों का नहीं। स्वतन्त्रता और मृत्यु ! इन दो वस्तुओं में वीर एक ही वस्तु चाहता है। ग़ुलामी और पराधीनता का जीवन उसके लिए त्याज्य और असह्य है।

न जिगर में आग भड़की, न कलेजा जल रहा है !
यह ग़ुबारे आह दिल है, मेरी जाँ धुआँ न समझो !!

चमत्कार

मैं अबला क्यों हूँ ? मेरे शरीर में वही बलवती आत्मा है, जो किसी भी वीर और बलवान पुरुष में होती और हो सकती है। माँ दुर्गा ने अकेले ही कितने प्रचण्ड शत्रुओं और भयानक राक्षसों का विध्वंस कर दिया था। मातृ-शक्ति का मुक़ाबला ही कौन कर सकता है ? संसार में मातृशक्ति की ही विजय दुन्दभि बजती आयी है। मैं शक्ति हूँ, सरस्वती हूँ महालक्ष्मी हूँ। मैं क्या नहीं हूँ ? मैं क्या नहीं कर सकती ? सती के तेज के आगे संसार की कोई शक्ति नहीं ठहर सकती।

देवी की दिव्य ज्योति के सामने सूर्य की प्रखर किरणें भी नहीं ठहर सकतीं।

× × × ×

प्राचीन समय में देवियों की दशा चाहे कितनी ही उच्च और विकसित रही हो; वे कितनी ही सभ्य और उन्नत रहीं हों, किन्तु इस समय उनकी अवस्था जैसी दीन-हीन है, जैसे भयङ्कर और विषैले वातावरण में उनका पालन-पोषण होता है और फिर जिस गहरी और भयानक कूप—मण्डूकता में वह रहती-सहती है, उसके स्मरण मात्र से हृदय काँप उठता है।

स्त्री मण्डल की यह दशा यहीं—भारतवर्ष में ही—हो, सो बात नहीं। समस्त संसार में स्त्रियों की अवस्था किसी न किसी रूप में प्रायः एक जैसी ही है; हाँ, भारतवर्ष इस मामले में सब देशों से अधिक निकृष्ट है, और उस में संयुक्त प्रान्त की दशा तो सब से अधिक दयनीय है।

पतन की यह अवस्था आज भी, इस समय भी है, जब देश में स्त्री-शिक्षा तीव्र गति से प्रचलित है, जब कि देवियों के प्रति पुरुषों के हृदय में कुछ आदर-सत्कार के भाव जागृत हो उठे हैं, और जब कि प्रायः भारत के प्रत्येक प्रान्त में अच्छी संख्या में शिक्षित महिलाएं हो गई हैं। परन्तु आज से लगभग ३०/३२ वर्ष पहले स्त्री-समाज की दशा कैसी शोचनीय, कितनी भयावह रही होगी, यह अनुमान करते ही सहसा हृदय काँप

उठता है। मातृ—जाति की इस दयनीय दशा पर विचार करते हुए एक पन्द्रह-सोलह वर्ष की नव-वधू के हृदय में तरङ्ग उठती है। वह तरङ्ग कितनी विचित्र, कैसी निराली और अनोखी होगी, इसकी कल्पना भी करना अभी सरल नहीं। क्या यह बात कभी किसी ने सोची थी ? क्या इस विषय पर किसी ने विचार किया था ? नहीं। स्त्रियों में सोचने और विचार करने की आदत ही नहीं होती। वह इस बला को जानती ही नहीं। उन्हें उनका पति-देव ही सब कुछ है। उसी को प्रत्येक बात सोचनी समझनी चाहिए। स्त्रियों को केवल रोना चाहिए और यह उन्हें आता भी खूब है। वे हँसती हैं, पर अपने लिए नहीं, पुरुषों को प्रसन्न करने, उनके दिल बहलाने और उन्हें लुभाने और रिझाने के लिए ही हँसती हैं; अन्यथा उनके लिए हँसना पाप और महापाप है, एकदम मार देने वाली बात है; परन्तु वह देवी हँसती है, मुसकराती है और विचार करती है। कभी उसके चेहरे पर गम्भीर भाव आ जाते हैं और कभी वह फूल की तरह खिल जाती है। क्या तुम उसके विचार जानना चाहते हो ? वह सोचती है—

"ऐं ! मैं क्या नहीं कर सकती। मुझे हतोत्साह होने की आवश्यकता नहीं। मैं पूर्ण पुरुषार्थ से काम करूँगी और मुझे अवश्य सफलता प्राप्त होगी—न होगी क्या मानी ? विपद् और कठिनाइयों, विघ्न और बाधाओं में ही तो काम करने से आनन्द आता है। अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय

प्राप्त करना ही तो वीरता है। मैं देश और जाति की सेवा करूँगी, स्त्री समाज की दशा अत्यन्त शोचनीय है। मैं अपनी बहिनों की उन्नति के लिए काम करूँगी। उन में जागृति के भाव उत्पन्न करूँगी। उन्हें उनका भव्य रूप दिखलाऊँगी। वैदिक धर्म का प्रचार करूँगी। क्या मैं यह काम न कर सकूँगी? हाँ मैं मूर्खा हूँ; पढ़ी-लिखी नहीं हूँ। इसके लिए मुझे पढ़ना होगा और हर तरह से एक सेविका बनने के लिए यथेष्ट तैयारी करनी होगी। सो, मैं करूँगी। कुछ ही हो, कोई कुछ ही कहे-सुने। अब मुझे यह काम करना ही है, और जी-जान से करना है। मेरे सामने कोई बाधा नहीं ठहरेगी। पहाड़ मेरे आगे अपना मस्तक झुकाने पर विवश होगा। मैं स्वयं अपना मार्ग साफ कर लूंगी। मुझे कोई सङ्कट, कोई कष्ट मेरे पथ से विचलित नहीं कर सकता। मैं अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचूंगी और अवश्य पहुँचूँगी।"

देवी का शुभ सङ्कल्प सफल हुआ। उन्हें अन्य देवियों की भाँति गृहस्थ के कड़े बन्धन कम नहीं थे। परन्तु वे कभी हतोत्साह नहीं हुईं। बाधाओं और कठिनाइयों में उन का उत्साह और भी दुगना हो जाता था। वह पहले संस्कृत नहीं जानती थीं। हिन्दी और उर्दू कुछ थोड़ी बहुत उन्हें आती थी; परन्तु पश्चात् उन्होंने इन सब भाषाओं में अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। इतना ही नहीं, उन्होंने अपना जीवन बड़ा संयमी और तपस्यापूर्ण बना लिया। जैसे-जैसे और जो-जो

भी उन्हें अवसर मिला, वह अपना कार्य निरन्तर दृढ़ता-पूर्वक करती ही गईं। वह अपना कोई समय, कोई अवसर नहीं खोती थीं और न किसी अच्छे समय और सुअवसर की प्रतीक्षा करती थीं। उनके लिए प्रत्येक समय, सुसमय और प्रत्येक अवसर, सुअवसर रहा। उनके इस संलग्नता और धुन से गृहस्थ के कार्यों में कोई हानि नहीं हुई, प्रत्युत वह एक आदर्श रूप से अपने गार्हस्थ्य धर्म का भी पालन करती रहीं।

वह पत्रों में लेख लिखतीं, कविता करतीं और जब अवसर मिलता, उपदेश और व्याख्यान भी देतीं थीं। ३२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने वानप्रस्थ लिया। अब उनका सारा समय देश और जाति की सेवा में व्यतीत होने लगा। इस समय वह एक मूर्खा स्त्री नहीं थीं, वरन् वह एक उच्च कोटि की विदुषी देवी बन गई थीं। लेख, उपदेश, शिक्षा, व्याख्यान, शास्त्रार्थ, आवश्यकतानुसार इन में से प्रत्येक उपाय द्वारा वह सेवा करतीं। उन्होंने स्त्री जाति में जागृति पैदा कर दी और संसार को अपने प्रबल पुरुषार्थ और अदम्य उत्साह से आश्चर्य-चकित कर दिया। उन्होंने अन्य कला कौशल इत्यादि के अतिरिक्त देश की पुकार पर खादी बुनने का काम भी सीखा और सिखाया, और आवश्यकता होने पर सहस्रों पुरुषों के सामने अनेक शास्त्रार्थ किए और व्याख्यान दिये। वह अपने अपूर्व साहस और भव्य पुरुषार्थ से स्वयम् इतनी ओजस्विनी, तेजस्विनी तथा प्रतिभाशालिनी बनी और अपने देश तथा जाति की सेवा कर सकीं। उनके प्रभाव में सैकड़ों बहिनों ने

सेवा का व्रत धारण किया। और जिन्होंने अपने चरित्र को उच्च बनाया, उनकी तो कोई संख्या ही नहीं बताई जा सकती। यह तो हुई उनके जीवन काल की बात। आगे भी उस तपस्वनी के पवित्र उदाहरण से बहिनों का आत्म-सुधार होगा, यह आशा है—विश्वास है। निस्सन्देह साहस या पुरुषार्थ ही मनुष्य का एक अद्‍भुत चमत्कार है। उसके द्वारा क्या नहीं हो सकता और क्या नहीं किया जा सकता है। संसार के इतिहास में साहस और पुरुषार्थ को ही सदा सर्वोच्च स्थान मिला है और मिलेगा! जो कार्य साधारण मनुष्यों के सामने असम्भव प्रतीत होकर चमत्कार के रूप में प्रकट होता है, वही काम साहसी मनुष्य के लिए एक साधारण बात से अधिक महत्व नहीं रखता। साहस में सजीवता और विकास का प्रादुर्भाव होता है और फिर यही असाधारण विकास साधारण मनुष्यों की भाषा में चमत्कार बन जाता है।

साधना

इन्हें मेरे सामने से हटाओ—दूर करो। मुझे इन सबों से क्या प्रयोजन ? मैं हवाई जहाज़ और मोटर इत्यादि नहीं चाहता। मुझे सुसज्जित राज प्रसाद की भाँति बढ़िया-बढ़िया महल नहीं चाहिए। मैं सुन्दर कामिनियों और विपुल काञ्चन को भी नहीं चाहता। मुझे मान-वैभव की इच्छा नहीं। राज्याधिकार और समाज-प्रतिष्ठा तथा नेतृत्व का भी मैं भूखा नहीं। मैं चाहता हूँ असहाय, दीन-दुखियों; अपाहजों और सताए हुए भाइयों का प्रेम—केवल उनका अमूल्य प्रेम और

कुछ नहीं। इनका प्रेम ही मेरा स्वर्ग, मेरा धर्म, मेरी सम्पत्ति, मेरा वैभव और मेरा जीवन है। मैं इसी के लिए अपने को निछावर कर दूंगा—उसी भाँति, जिस तरह—पतङ्ग दीपक को अपना सर्वस्व समर्पित कर देते हैं।

मैं सद्गुणों और गुण वालों का ग्राहक और हित-चिन्तक हूँ। वे कहीं भी, किसी में भी हों, मैं उनका यथोचित आदर करूंगा। मेरे सामने देश, जाति, रङ्ग-रूप और धर्म तथा मज़हब आदि का भेद भाव नहीं। हम सब एक ही परमपिता परमात्मा के पुत्र हैं और हमें सबको भाई-भाई की तरह रहना चाहिए। मैं साम्प्रदायिक विचार का पक्षपाती नहीं हूँ। मेरा धर्म सार्वभौमिक एवं विश्व धर्म है। मैं किसी का अहित नहीं चाहता, वरन् मेरी हार्दिक आकांक्षा तो यह होती है कि मेरे द्वारा सभी का भला हो। मैं मनुष्य-प्रेम और सेवा को ही ईश्वर-पूजा समझता हूं! मैं चाहता हूँ कि मुझमें कभी-किसी तरह भी—किसी के प्रति भी पक्षपात के भाव न आए। गिरे हुओं का उठाना, बिछुड़े हुओं को गले लगाना, भूले हुओं को राह बताना, तथा दुखियों का दुख बटाना मेरा नित्य कर्म हो। मैं, मेरा सर्वस्व, मेरी सभी बातें सांसारिक प्राणियों के दुख और कष्टों के निवारणार्थ हों, रोगियों के लिए मैं औषधि, सान्त्वना और चिकित्सक तथा परिचारक होऊँ। अकाल और दुर्भिक्ष में जब अन्न-जल से देश में त्राहि-त्राहि मचा हो और लोग एक दूसरे का माँस तक खा कर अपने पापी पेट की ज्वाला बुझाने के लिए विवश और

तैयार हों, तो मैं अपना शरीर उन्हें अर्पण कर, उनकी क्षुधा को निवृत करूँ। कोढ़ी, अपाहज़ों, लूले-लङ्गड़ों तथा दरिद्रों के लिए मैं उनका हाथ, पाँव, तथा धन होऊँ, और उनकी इच्छा पूर्ति में मैं अपना आनन्द और सौभाग्य समझूँ। मैं दूसरो के दुख-सुख को अपना दुख-सुख समझता हूँ। मैं किसी को पतित और अछूत नहीं समझता हूँ। मैं मानव समाज का कल्याण समता, पारस्परिक सद्भाव तथा प्रेम द्वारा ही मानता हूँ।

मैं सब की भलाई चाहता हूं। मुझे मेरे सुकृत के फल स्वरूप यदि मोक्षानन्द भी मिले, तो मैं उसे अकेले भोगना नहीं चाहता। मैं समाज का एक महा तुच्छ सदस्य हूँ। समाज के साथ ही मैं अपना मरना–जीना, दुख–सुख, हानि–लाभ समझता हूँ। पाण्डवों की विजय क्यों हुई थी? केवल इसी लिए कि, वह पाँचो भाई एक थे। उन सब का एक ही उद्देश, एक ही ध्येय, एक ही सुख-दुख था। वे सब एक दूसरे के लिए थे। महाभारत-युद्ध के आरम्भ में महाराज युधिष्ठिर ने कहा ही था, कि यदि हम पाँचों भाइयों में से किसी एक का भी अनिष्ट होगा, तो मैं उसी क्षण अपना प्राण त्याग दूँगा। विजय प्राप्ति का यही रहस्य था! मेरा भी विश्वास यही है कि अपनी ही उन्नति से किसी की वास्तविक और यथार्थ उन्नति नहीं होती, किन्तु सब की उन्नति से ही यथेष्ट और सच्ची उन्नति होती है।

मैं इसी साधना में दिन-रात निरत रहना अपना उद्देश समझता हूँ। प्राणी मात्र की सेवा करना मेरा ध्येय है। मेरा जप-तप

योग-ज्ञान, ध्यान–स्मरण, दान-पुण्य, और तीर्थ-स्नान आदि सब कुछ यही है। इसी का मैं नित्य-प्रति चिन्तन कर अपने दैनिक जीवन में परिणत करने की प्राणपन से चेष्टा करता रहता हूँ। इसमें अपने चरित्र की कड़ी परीक्षा करना परमावश्यक है, अपने नैतिक तथा मानसिक गुणों का निरन्तर अभ्यास करना बड़ा ज़रूरी है। मैं इस ओर सदा सतर्क और सावधान रहने का भरपूर यत्न करता हूँ, और अपने कर्त्तव्य-पथ पर चलने के लिए जितना और जैसा भी बन पड़ता है, सबल और सपुष्ट बने रहने के लिए प्रयत्नशील हूँ। सम्भव है, मैं अपनी भूल, त्रुटि या अपूर्णता के कारण अब तक असफलीभूत रहा होऊँ। पर फिर भी मैं सतत इस परम् पवित्र उद्देश की एकान्त पूर्ति में लगा हूँ और निश्चय ही वह समय आवेगा, जब कि विजय श्री मेरे चरणों पर लोटेगी। मैं अपने प्रयत्न में अस्थिर, शिथिल, अन्य-मनस्क और हतोत्साह नहीं होऊँगा। मानव गुणों और मानवी शक्तियों के विकास के लिए असफतताएँ भी एक सहायक का काम करती हैं, पर मनुष्य की दृष्टि अपने आदर्श की ओर दृढ़ रहनी चाहिए। नम्रता, भक्ति, दृढ़ता और इन सबों से परे दीन-दुखियों की सेवा के निमित्त अपना शरीर, अपनी आत्मा एवं अपना सर्वस्व समर्पण—ये बातें मेरे दरिद्र जीवन की अमूल्य निधियाँ हैं और इन्हों ने मेरे जीवन को आदि से लेकर अन्त तक साधना की एक सुन्दर कार्य–भूमि बना दी है !!!

❀ ❀ ❀

आशा

"वह तो मर ही गया। परन्तु इसके दो-ढाई वर्ष के बच्चे के लिए क्या होगा? इसकी माँ तो पहले ही मर चुकी थी। यहाँ उसके बिरादरी का कोई चमार होता, तो अच्छा था।"

"अजी, इसकी परवरिश हम करेंगे। अभी लाश को दफ़नाने के लिए लिये जाते हैं।"

"हज़रत! लाश को आप जो चाहें करें, लेकिन लड़का तो हमारे आरफ़नेज (अनाथालय) में ही जायगा। इसके मुतालिक़ कलक्टर साहब का हुक्म मौजूद है। इसे कोई दूसरा नहीं ले जा सकता।

"जनाब पादरी साहब ! इसका बाप मुसलमान हो चुका है। मुसल्मान का लड़का इस्लाम की गोद से बाहर नहीं जा सकता। मैं इसे उठाता हूँ। देखें, कौन मेरा हाथ पकड़ता है ?"

इतने में आवाज़ आई, "ख़बरदार ! उसे न छूना। वह बच्चा हमारा है। आर्य जाति का कोई बच्चा कभी अनाथ और लावारिस नहीं होता...... ।"

यह कहता हुआ सामने की भीड़ चीर कर एक युवक आगे बढ़ा और आन की आन में—सब के देखते ही देखते—उस बच्चे को ज़मीन से उठा कर अपनी छाती से लगा लिया और उसके साथी लाश उठाकर दाह कार्य के लिए ले गये।

"आर्य जाति का कोई बच्चा कभी अनाथ और लावारिस नहीं होता।" यह वाक्य कितना गम्भीर और मनन करने योग्य है। सोचो-समझो और अपना कर्त्तव्य पालन करो। इस समय बात बनाने की ज़रूरत नहीं है। ज़रूरत है, अपने कर्त्तव्य और उत्तर-दायित्व को पालन करने की। जाति के बच्चे, राष्ट्र की सम्पत्ति और भावी आशाएँ होती हैं। इन्हें अनाथ कहना, अनाथ समझना, अनाथों की तरह इन से व्यवहार करना—अपनी जाति, अपने देश और अपने धर्म का अपमान करना है। अनाथ शब्द तथा उसका भाव राष्ट्र की उच्च भावनाओं और महत्वाकांक्षाओं के लिए घातक है। अतः इन बच्चों का और उन अमूल्य संस्थाओं का—जहाँ ये रहते हों—सुन्दर और भावपूर्ण नाम रखना चाहिए और बच्चों के लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा में—

आर्य पुरुषों को अपने पुत्रों से अधिक नहीं, तो उदारता पूर्वक समान रूप से अवश्य ही काम लेना चाहिए, और उन्हें हर प्रकार से सुयोग्य और स्वावलम्बी बनाने का भरपूर यत्न करना चाहिये।

ये नन्हें बच्चे, ये भोली-भाली सूरतें, ये पवित्र आत्माएँ, देश के भावी नागरिक हैं। कवि, लेखक, सम्पादक, अध्यापक, राज-मन्त्री, सेना-पति, जल-सेनाध्यक्ष, राष्ट्रपति, साम्राज्य-सभा और सभ्य-संसार के समाज में भारत का प्रतिनिधि, योगी-यती, साधु-महात्मा, आदि इन्हीं में से बनेंगे। ये सभी नवीन भारत की नवीन आशाएँ हैं। इन्हीं के द्वारा देश और जाति का उद्धार होगा। यही अविद्या-अन्धकार-लिप्त, कर्त्तव्य-विमूढ़ मानव-समाज की सेवा कर उसमें जागृति उत्पन्न करेंगे। पौधा, पेड़ का स्वरूप बतलाता है और बालक मनुष्य का। मनुष्य बचपन के संस्कारों का विकसित स्पष्टीकरण है। हम क्या के क्या होते, यदि हमारा बचपन, हमारी युवावस्था, ज़रा और बुद्धिमानी के साथ सञ्चालित होती, और इसी प्रकार यदि उन अनाथों कही जाने वाली भावी आशाओं की ओर प्रेम-पूर्वक ध्यान दिया जाय, तो ये क्या नहीं हो सकते—क्या नहीं बन सकते। हम बहुधा जो कुछ आगे चल कर हो जाते हैं, वह स्वतः ही होते हैं। हमारे साथ कोई प्रयत्न नहीं करता। परिणाम यह होता है कि हमारे कितने अंश अपूर्ण और अविकसित रह जाते हैं, और हमें अपनी शक्ति का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। क्या हम बालक-बालिकाओं और भावी सन्तति के लिए कुछ करने को

तैयार हैं ? बाल-संसार चहुँ ओर की ध्वनि सुनने के लिए सदैव तत्पर रहता है। पर हम ही अपने कर्त्तव्य पालन से चूक जाते हैं। हमें उनकी रुचि, उनके हृदय, उनके स्वभाव को भली भाँति अध्ययन करना चाहिए। हमें बच्चे और सुहृद अध्यापकों, अधिष्ठाताओं की ज़रूरत है। मानव-विज्ञान बड़ा अमूल्य और परमोपयोगी विज्ञान है। इसके अध्ययन और अध्यापन की ज़रूरत है। सिद्धान्त गढे जा रहे हैं। व्याख्यान दिये जा सकते हैं। विवाद भी खूब हो सकता है। परन्तु जीवन के विच्छिन्न प्रवाह को सन्मार्ग पर लाना कठिन है। बुराई बढ़ती जा रही है, दुख-दर्द पराकाष्ठा पर पहुंच रहे हैं। इनको दूर करना, इनको औषधि कर इन्हें नष्ट करना कठिन है। यह काम इस पीढ़ी से जितना बन आया; किया गया। अब इसे भविष्य नागरिकों पर छोड़ा जाता है। हमारी भावी आशाएँ इन्हीं पर अवलम्बित हैं। यही हमारी आशाएँ हैं। हम इन्हीं की ओर प्रतीक्षा भरी दृष्टि से देखते हैं।

बच्चो! विद्यार्थियो, मेरे प्यारे युवक मित्रो! मुझ इस बूढ़े सिपाही की बात सुनते हो ? तुम्हारा देश, तुम्हारे देश के शुभ-चिन्तक, तुम से किस बात की आशा करते हैं ? तुम जानते हो, वे आशा करते हैं तुम वीर, तेजस्वी, स्वदेशानुरागी, संसार और मनुष्य जाति के—जिसके लिए भारत अभी तक जीवित है—सेवक और प्रेमी बनोगे और अपने सुधार तथा देशोद्धार में दत्त-चित रहोगे। ईश्वर तुम्हारा भला करे, तुम चिरञ्जीवी हो!

———

पाप

हैं ! क्या कहते हो ? चुप रहो, चुप रहो । आज कल मुँह से बात निकालना, अपने आप को विपत्ति में डालना है । आन्दोलन करना चाहिए, परन्तु बहुत समझ-बूझ के—बहुत संयम और विचार के साथ । लेख लिखना चाहिए, मगर क़ानून की हद में रह कर, हृदय के आवेश को रोक-थाम कर । ज़माना बुरा है, नाज़ुक है । इस समय जो भी होजाय—आश्चर्य नहीं; न होजाय—आश्चर्य है ।

हाय ! अब तो आह करना भी पाप होगया । साँस लेने में सेडिशन और विद्रोह की गन्ध आने लगी । अधिकार के मद में

उन्मत्त झूठे-सच्चे मुक़द्‌मे बनाने वालों ने ज़मीन सिर पर उठा ली है! ग़रीबों को लूट कर अपना घर भरने वाले ऐसे ही अवसर और समय को देखते रहते हैं। इस अन्धेर और धींगा-धाँगी का कोई ठिकाना नहीं। दाद-फ़र्याद के लिए कोई कहाँ जाय, कहाँ कहे-सुने? कहीं न्याय नहीं, कोई न्यायाधीश नहीं। हर जगह एक ही तान, एक ही सुर है। लेकिन क्या ईश्वर है ही नहीं? पाप की नाव क्या कभी भरेगी ही नहीं? भरेगी क्यों नहीं, पर सन्तोष नहीं होता, और होगा भी कहाँ तक? एक दिन हो, दो दिन हों, तो कोई सहन भी कर ले, यह तो नित्य की ही विपत्ति ठहरी। इसका ओर-छोर ही नहीं प्रतीत होता। इसमें किसका दोष है—अपना या समय का? चुप रहो, चुप रहो, यह रोना-धोना व्यर्थ है। दीवार के भी कान होते हैं। आज चुप रहने में भी जब जान नहीं बचती, तो ज़बान निकालने में न जाने क्या होगा?

मुझे आशा थी-आशा ही क्यों? बहुतों को तो यह विश्वास ही हो चुका था कि दुख की घड़ी अब गई, तब गई। हम अब स्वाधीनता का उपभोग करने वाले हैं। महीना निकला—दो महीने निकले—चार महीने हुए—पूरा साल भी बीत गया, पर विपत्ति और गुलामी के काले बादल सिर पर छाए ही रहे। आशे, निष्ठुर आशे! तू पहले जिस प्रकार सुन्दर और मनमोहक प्रतीत होती थी, उसी प्रकार इस समय डरावनी और दुखप्रद मालूम होती है। अस्तु—

अत्याचार और अन्याय देख कर चुप रहना भी पाप है। हाय! कैसा पाप! उफ़! जी दहला जाता है। यह कर्त्तव्य-विमूढ़ता जो चाहे, कराए। स्वार्थ और पक्षपात में पड़ कर मनुष्य क्या नहीं करता? क्या नहीं कर गुज़रता? हम अन्याय और अत्याचार होते हुए देखते हैं। हम धर्म, न्याय, उपकार तथा सुधार आदि अनेक लुभाने वाली बातों की आड़ में उनके विपरीत व्यवहार तथा भावना पाते हैं। हमारे सामने प्रेम, विश्व-बन्धुत्व, सहानुभूति, सेवा आदि सार्वजनिक हित का नाम लेकर अनेक प्रकार से ज़ुल्म और नादिरशाही वर्ती जाती है, पर हम देखते हुए आँख बन्द कर लेते हैं। जानते हुए मौन साध लेते हैं। उसके विरुद्ध ज़बान हिलाने का साहस नहीं करते। क्यों? हम पतित हैं। हमारी आत्मा कमज़ोर है, और हमारी पापी आँखें इन अत्याचारों, अन्यायों तथा पापों को देखने में अभ्यस्त होगई हैं, तथा हमारा हृदय स्वयं पाप के बोझ से नत है। हम गुलाम हैं, गुलामी हमारे रोम-रोम में घुस गई है। हमें स्वतन्त्रता पूर्वक अपनी सम्मति, अपने विचार प्रकट करते हुए डर लगता है। ईश्वर ने हमें ज़बान दी है। उसका दुरुपयोग भले ही हो जाय, पर सदुपयोग करने का साहस हम में नहीं है। हमें जनता के हित-रक्षक, किसी संस्था के ट्रस्टी तथा अन्तरङ्ग सभा के सदस्य बनने और कहलाने का अभिमान है। हमें अधिकार भी बहुत कुछ है, पर सत्य और न्याय के लिए न हम अपने अधिकारों को कार्य में लाते हैं और

न अपना कर्त्तव्य ही पालन करते हैं। यह अवस्था असह्य है, और यही पाप का मूल है। यही व्यक्तियों; संस्थाओं और जातियों की अधोगति का कारण है।

पतित अवस्था में स्वयं रहना, या किसी को रखना पाप है। स्वाधीनता मनुष्य का प्रकृति-दत्त अधिकार है। उसे प्राप्त न करना पाप है। पतन, अवनति, अधोगति, पाप है। गुलामी, दासता, अनुकरण-प्रियता पाप है। मर्यादा से गिरना इधर-उधर जाना पाप है। समयपर चूकना, सामयिक व्यवस्था तथा आवश्यकता पर ध्यान न देकर सड़ी-गली रूढ़ियों को गले का हार बनाए रखना; धर्म-कर्म, लोक और शास्त्र की झूठी और हानिकारक दुहाई देकर दूरदर्शिता से काम न लेना पाप है। ज़ुल्म और अन्याय कहीं हो, किसी से हो - अपने से, बेगाने से, मित्रों से, शत्रुओं से, राजा से, प्रजा से, ब्राह्मण से, शूद्र से. साधू-महात्मा से—कभी और किसी दशा में भी क्षन्तव्य न होना चाहिए। अन्याय और अत्याचार सहन करने वाला, अन्यायी और अत्याचारी पुरुष से भी अधिक दोषी, पापी और नरकगामी होता है! अन्याय और अत्याचार के साथ किसी प्रकार का सहयोग करने वाला अन्यायी और अत्याचारी से भी बुरा और भयङ्कर है। वाह्य आक्रमण से मनुष्य समाज का इतता संहार नहीं होता, जितना कि स्वयं उसी के द्वारा निर्मित किए गए उसके आन्तरिक रोगों से। हमारी ही कर्त्तव्य-विमूढ़ता से हमारे दुख बढ़ते हैं। सारी

आपदाओं के हम ही कारण हैं। हमने ही अत्याचारियों का साहस बढ़ा दिया है। हमने ही आततायियों को उत्साहित किया है। दुष्टात्माओं का बल निर्बलों की दुर्बलता में होता है। क्या हमें इस पाप के प्रायश्चित के लिए तैयार न रहना और तैयार न हो जाना चाहिए?

सत्कार
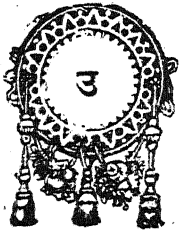
उसका दोष ही क्या था? यही न, कि वह अपने देश को प्यार करता था। उस के लिए जान देता था—मरता था। वह देश के लिए पागल था। उसके दुख से दुखी रहता था। देश और जाति पर अत्याचार होते हुए देख कर उससे रहा नहीं जाता था। उसका दिल मसोस उठता था। वह दर्द से बे तरह तड़प जाता था, और जब उसे अपने प्यारे देश की हृदय-विदारक स्थिति असह्य हो उठती, तो वह रो उठता—चिल्ला उठता। उस ग़रीब का यही क़ुसूर था। उसका केवल यही दोष, यही पाप था। हा! इसी के लिए उसे इतना

कठोर दण्ड ! उस पर इतना भयङ्कर अत्याचार ! शिव ! शिव !! कैसा विकट अन्धेर और जघन्य अन्याय है !

देश-प्रेम जैसी पवित्र वस्तु इस युग में पाप होगई है। देश-भक्त हत्यारे और डाकू बन गए हैं। पराधीनता ! तेरी बलिहारी। तू जो चाहे करे—कराए। जिन मस्तकों पर विजय की विभूति का छत्र रहना चाहिए था उन पर काँटों की टोपियाँ रक्खी जाती हैं। कैसा विपरीत समय है। क्या यह समय योंही रहेगा ? कौन जाने ? पर अभी तो है ही। आज के रोने से अवकाश मिलने पर ही कल का विचार हो सकता है। देश-प्रेम एक अपराध है, और बड़ा भयङ्कर एवं गुरुतर अपराध है। वह क्षमा नहीं किया जा सकता। अपराधी को अपने किए का फल भोगना ही चाहिए। पर उसके बाल-बच्चों ने क्या अपराध किया है ? वे क्यों जौ के साथ घुन की तरह पीसे जाते हैं। क्या इस लिए कि वे एक अपराधी के बाल-बच्चे हैं। वे अपराधी के साथ खाते-पीते, उठते-बैठते रहे हैं ? उनका और अपराधी का बहुत समय तक साथ रहा है ? वे एक ही वायु-मण्डल और वातावरण में साँस लेते रहे हैं ? सम्भव है, उनमें भी अपराध के विषैले परमाणु प्रवेश कर गए हों और इस लिए उन्हें भी इस प्रेमोपहार में—दण्ड में, कुछ भाग मिलना ही चाहिए। अवश्य !

अपराध और अपराध में, तथा अपराधी और अपराधी में भी अन्तर होता है और इस पर विचार करना न्याय का पहला

कर्त्तव्य है। परन्तु जिस न्याय में देश–प्रेम एक घोर अपराध है, उसे इस बात से क्या सम्बन्ध? लेकिन क्या हमारे समाज को भी इस पर कुछ विचार न करना चाहिए? क्या उसे भी उनके बाल-बच्चों को केवल ईश्वर की दया और उनके भाग्य पर छोड़ कर सन्तुष्ट हो जाना चाहिए। समाज का कर्त्तव्य भी इन दुखित और मज़लूम परिवारों के साथ क्या ग़ैरों जैसा ही होना चाहिए? उत्तर स्पष्ट है, नहीं, और कभी नहीं। फिर क्यों कोई उनकी ओर तथा उनके अभागे परिवार वालों की ओर नहीं देखता? कोई उनकी बातें नहीं सुनता? क्या वे ग़रीब यों ही मर जाँय? क्या उनकी देश-सेवा और त्याग वृत्ति का यही उपहार है? हा! देश का दुर्दिन! समाज का अधःपतन! फूल के बदले पत्थर। उपहार के एवज़ तिरस्कार! देश-प्रेम। तू सच-मुच पाप है, अपराध है, और न जाने क्या–क्या है? लोग बुरे से बुरे पापियों और घृणित से घृणित अपराधियों के साथ प्रेम और दया दिखा सकते हैं। पर तेरे अपराधी के साथ कोई भी सहानुभूति के भाव नहीं प्रकट करता—नहीं प्रकट कर सकता। क्यों? हाय, पराधीनता में हम इसका उत्तर भी नहीं दे सकते।

समाज में स्वार्थपरता और पक्षपात का साम्राज्य है। दान–पुण्य, भेंट–भलाई भी ऊँची दूकान देख कर की जाती है। सात्विक भाव का प्रायः अभाव सा होता है। हर जगह स्वार्थ का ही आधिपत्य है। सभाओं, संस्थाओं का उद्देश भले ही अच्छा और पवित्र हो, उनका वाह्य–रूप भले ही सुरुचि–पूर्ण

और आकर्षक हों, परन्तु उनका अन्तर्जगत कैसा है ? आज देश की सभाओं और भिन्न-भिन्न संस्थाओं की आन्तरिक स्थिति कितनी निराशा जनक एवं दयनीय है ? क्या यह भी बतलाना होगा ? कहा जाता है, यह सब की, और सार्वजनिक हित के लिए होती हैं। पर ये जैसी होती हैं, जिस प्रकार होती हैं, जिसकी होती हैं, जिसके लिए होती हैं और जिस भाँति इन में सार्वजनिक हित सम्पादन होता है, वह न पूछो, न पूछो। हाँ, जानना चाहते हो, तो कुछ समय के लिए इनमें स्वतः सम्मिलित होके देख लो। ये आज कल के अधिकांश पतित मठों की भाँति पाप, अन्याय एवं स्वार्थपरता के अड्डे हैं, जहाँ स्वार्थी और नाम चाहने वाले नेता अपनी स्वार्थपरता के नित्य नये नये अभिनय करते हैं। उन्हें किसी दुखी परिवार के दुख-दर्द और मुसीबतों से कुछ सरोकार नहीं। हाँ, यदि वह परिवार उनके किसी साथी, मित्र या सम्बन्धी का हुआ, या स्वतः वह मनुष्य उनके मेल या पार्टी का हुआ, तब तो सब कुछ और यदि नहीं, तो कुछ भी नहीं। बल्कि 'उल्टे मुए पर सौ दुर्रे'। सहायता और सहानुभूति के स्थान में दोष, एवं अपकीर्ति और न जाने क्या-क्या ? मुद्दतों का बैर उसी समय चुकाया जाता है। एक का दुर्भाग्य दूसरे का सौभाग्य होता ही है। सूली का तख़्ता और बादशाह का तख़्त कभी-कभी एक ही उद्देश के साधन बनते या बनाए जाते हैं। अस्तु—

इस झगड़े-रगड़े में उस दुखित परिवार पर और भी

शामत आ जाती है। विशेषतया उस समय, जब उसमें कोई कमाने वाला पुरुष नहीं होता, आय का साधन एकदम बन्द होजाता है और घर में कई स्त्री-बच्चे खाने-पीने वाले होते हैं, हा! उस समय कैसी मुसीबत होती है? छोटे-छोटे बच्चों का खोंचे वालों की आवाज़ पर मचलना और उनकी दुखिया माताओं का अपने चोट खाए हुए दिल को मसोस-मसोस कर चुप रह जाना, या उन्हें किसी न किसी प्रकार बहलाना, और फिर भी उन नन्हें अज्ञान बच्चों का न मान कर बिलख-बिलख कर रोना, क्या कोई साधारण बात है? हाय! यह तो वह करुण-कहानी है, जिसकी कल्पना मात्र से दिल हिल जाता है, कलेजा काँप उठता है और ईश्वर ही जानता है कि ऐसे समय पर सहृदय आत्माओं की क्या दशा होती है। प्रताप—वज्र-हृदय प्रताप—इसी दृश्य को देख कर अधीर हो गया था। कौन प्रताप? वही हिन्दू-पति राणा प्रताप, जो सहस्रों आपत्तियों पर भी अपने देश-शत्रुओं के साथ वर्षों स्वतन्त्रता की लड़ाई में घोर युद्ध करता रहा, परन्तु एक दिन जब उसने अपने बच्चों को इस तरह भूख से रोते और बिलखते हुए देखा, तो उससे देखा न गया और वह अपने शत्रुओं के साथ सन्धि करने पर तैयार हो गया। हाय! कैसा हृदय-विदारक दृश्य है। पर यह शराफ़त और भलमनसाहत के पुतले सब कुछ देखते हैं, सब तरह की मुसीबत सहते हैं, पर अपना दुख नहीं प्रकट करते। उन्हें भीतर ही भीतर अपना हृदय मसोस कर रहना पड़ता है। वे घर की चार दीवारी के अन्दर

ही घुट-घुट कर मर जाएँगे, परन्तु अपनी व्यथा सुनाने के लिए किसी के यहाँ नहीं जायँगे। वे कुलीन हैं, शरीफ़ हैं। उन्होंने कभी किसी और के सामने अपने आँसू नहीं बहाए। वे दाने-दाने के लिए तड़प-तड़प कर मर जायँगे, परन्तु दया की भीख के लिए, कृपा की भिक्षा के लिए, किसी के आगे अपना हाथ नहीं फैलाएँगे। उन्हें लज्जा है, उन्हें अपने कुल और मर्यादा का ध्यान है। वे अपने पूर्वजों की सम्मान और प्रतिष्ठा को कलङ्कित करना नहीं चाहते। वे मेहनत मज़दूरी करेंगे, फटे-पुराने कपड़े पहिन कर और भूखे पेट रह कर अपने दिन काट देंगे; पर अपनी शान और कुल-मर्यादा के विपरीत कोई व्यवहार नहीं करेंगे। हा! कैसा उच्च और सात्विक भाव है। कैसा मौन, त्याग और सच्चा तप है। क्या समाज के लिए इन से भी अधिक कोई सुपात्र मिल सकता है?

दान देश और जाति के उपकार के लिए होता ही है। उसे देश और काल की आवश्यकता को ही देख कर ऐसे सम्मानित और कुलीन परिवारों के सहायतार्थ काम में लाना चाहिए। पर क्या तुम देश-भक्तों के परिवारों को दान देकर कृतार्थ होना चाहते हो? निःसन्देह ऐसे सुपात्रों को ही दान देने से दान की शोभा और उपयोगिता है। लेकिन देखो; वे विशेष तुम्हारे सम्मान और और सत्कार के योग्य हैं। उन्हें दान के रूप में सहायता देने का विचार छोड़ दो। उनकी सेवा-सुश्रुषा करना अपना कर्त्तव्य समझो। उनका आदर-सत्कार करो और हाँ,

जाओ, उनके पवित्र चरणों में सादर, सप्रेम, सभक्ति अपनी पूजा भेंट चढ़ा कर कृतकृत्य हो। उनके आशीर्वाद से तुम्हारा और तुम्हारे देश दोनों का कल्याण होगा। समाज में त्याग, देश-भक्ति और समाज-सेवा के प्रति आदर; उत्साह और विश्वास के भाव जागृत होंगे और देश का दुख-दर्द दूर होगा।

आकांक्षा

“तुम इतनी व्यस्त क्यों दीख रही हो ?”

कुछ देर सोच कर उसने उत्तर दिया, “तुम्हें भोजन करा कर मुझे जमुना तट पर जाना है। वहाँ एक विधवा रहती है। वह बहुत ग़रीब और बीमार है। उसकी देख-भाल करने वाला कोई नहीं है। मैं उसकी झोपड़ी में जाऊँगी। वहाँ झाड़ू दूंगी। उसके लिए जमुना से जल लाऊँगी। उसे दवा दूंगी। दूध पिलाऊँगी। जब तक उसे नींद नहीं आएगी, उसे सुलाने के लिए पङ्खा करूँगी। जब वह सो जाएगी, तो मैं उस

के सिरहाने एक लोटा पानी रख कर चली आऊँगा। बस, इस समय मुझे इसी काम की चिन्ता है।"

"खूब, तुम्हारी चिन्ता तो बहुत सुन्दर है। पर क्या तुम इससे बेहतर कोई और काम नहीं कर सकतीं ? यह तो कोई अशिक्षित स्त्री भी कर सकती है वह काम करो, जिस से तुम्हारी विद्या और योग्यता से देश और जाति को कोई विशेष गौरव प्राप्त हो और तुम्हारा नाम जगत विख्यात हो।"

"मैं जगत विख्यात होना नहीं चाहती। तुम्हें ही तुम्हारा नाम और ख्याति मुबारक हो। तुम ही देश के नेता बनो। मैं तुम्हारी बातों को समझने में असमर्थ हूं और परमात्मा करे, ये बातें आप जैसे बुद्धिमानों के लिए ही रहें। मैं हिसाब-किताब करना नहीं चाहती। किस काम की क़ीमत अधिक है और किस काम की कम है, यह मैं नहीं कह सकती। उस अनाथ की वेदना इस समय मुझे सता रही है। मेरे हृदय में पीड़ा हो रही है और मुझे अपनी ही इस वेदना को दूर करने के लिए वहाँ जाना आवश्यक है। इसमें यह विचार नहीं है कि मैं किसी की सेवा करने जा रही हूँ। मैं स्वार्थिनी हूँ, अपना स्वार्थ साधन करने जा रही हूँ।"

आह! यह है, तप, त्याग और आत्म-समर्पण! वह देवी इस समय संसार में नहीं है। पर उसकी जीवन-ज्योति जिस समय अपने चारों ओर इस सात्विक आलोक की पवित्र रश्मियाँ फेंक रही थी, उस समय जिन लोगों को उसकी तेजस्विता और

पवित्रता से लाभ उठाने का थोड़ा-बहुत भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे ही उसको उसकी पवित्र भावनाओं, तथा महत्वाकांक्षाओं को और उसके निष्काम सेवा के महत्व को जानते हैं। वे साक्षात् देवी थीं। सेवा, तप और त्याग मानो उसके दिव्य-व्यक्तित्व में एक व्यक्ति का रूप धारण किए हुए था। उन्होंने अपने जीवन पर्यन्त इन्हीं विशुद्ध भावनाओं के साथ काम किया और एक दिन इन्हीं पवित्र भावनाओं को लेकर वे अनन्त की स्नेहमयी गोद में विलीन हो गईं। उन्हें अपने नाम और शोहरत की कभी चाह नहीं हुई। वे आडम्बर और दिखावे से सदा दूर रहीं। वे चुप-चाप सेवा करना जानती थीं। उन्हें निर्धनता और अज्ञात जीवन ही पसन्द था, और वे गुप्त-सेवा, गुप्त-दान और गुप्त-सहायता को ही बड़े मान और महत्व की वस्तु सहझती थीं।

हम देश और धर्म की सेवा करना चाहते हैं। परन्तु हमारे हृदय में सेवा से अधिक अपने नाम और ख्याति की चाह होती है। सेवा-धर्म प्रेम का मार्ग है। प्रेम में व्यापार नहीं होता, पर हम एक व्यापारी की भाँति प्रेम का व्यवहार करते हैं। हम सेवा कार्य में त्याग करते हैं, पर त्याग के अभिमान का त्याग नहीं करते। हमारे त्याग का प्रभाव होता है, परन्तु हमारे अभिमान के कारण उत्पन्न हुए भेदों से समाज में कम विश्रृङ्खलता उत्पन्न नहीं होती। यह विश्रृङ्खलता किस प्रकार और किन उपायों से हटाई जा सकती है? केवल तप, त्याग

और बलिदान के द्वारा। और वह भी ढोल और नक्कारों के साथ नहीं—गुप्त और नम्रतापूर्ण सेवा के रूप में !

क्या हम इस गुप्त-सेवा के लिए तैयार हैं ? क्या हमारे हृदय में यह सात्विक भावना मौजूद है ? हाय, इस विज्ञप्ति और इश्तिहारबाज़ी के ज़माने में ये सद्भावनाएँ कहाँ ? समाज सभाएं, आश्रम सभी कुछ मौजूद हैं । ये अपना अपना काम कर रहे हैं ! हम किसी को निन्दा नहीं करते । समाज सेवा का कार्य—जो भी, जैसा भी और जितना भी—होता है, वह अच्छा ही है । परन्तु दुखी प्राणियों और पीड़ित जातियों की गुप्त-सेवा करने वाले मनुष्य और संस्थाएँ कहाँ हैं ? हमारे हृदय में निर्धनों के प्रति प्रेम और आदर का अभाव है । शिक्षित होने पर भी घमण्ड में हम लोग साधारण आदमियों से उसी प्रकार पृथक् रहते हैं, जैसे पुजारी लोग अछूतों से । हाँ, कुछ आध्यात्मिक जीवन का ध्यान रखते हैं, लेकिन उनमें भी बहुत से ताड़ के वृक्षों के पत्तों की तरह ऊँचे तो बहुत होते हैं, किन्तु हमारे समान ग़रीबों को शीतल छाया बिलकुल नहीं देते । हाय, इस सजला, सफला, शस्य-श्यामला, भूमि पर लाखों नर-नारी, अन्न-वस्त्र दवा-दारू सेवा-सुश्रुषा, आदि के अभाव से आए दिन तड़प कर अपने प्राण गवाँ रहे हैं और हम अपने नाम, प्रतिष्ठा और अधिकार के पीछे उस ओर ध्यान भी नहीं देते—देखते भी नहीं । क्या ऋषियों की पवित्र भूमि में गुप्त-दान और गुप्त सेवा आदि को पवित्र और सात्विक भावनाओं का

आदर एकदम उठ गया ? काश हम फिर इसी पवित्र आदर्श को सम्मुख रख कर अपना कर्त्तव्य पालन करें। यही, और केवल यही, इस समय मेरी आकांक्षा है।

हाँ, त्याग, निस्पृहता एवं अज्ञात जीवन की वह सहचरी अब इस मानवी तथा दुःख और पीड़ाओं के जगत में नहीं। वे तो अनन्त के अज्ञात चरणों में सदा के लिए विश्राम कर रही हैं। परन्तु वह जीवन-ज्योति जिसने एक बार—नहीं बार-बार—इस तुच्छ जीवन के पर्दे में सात्विक आग लगाई थी.... ...आज भी मिटी नहीं......। वह तो रात-दिन प्रत्येक घड़ी, क्षण और पल में और भी तीव्र गति से जल उठती है और उस भयानक प्रज्वलन में जीवन की सारी विरक्ति अनुरक्ति का रूप धारण कर और सारी अनुरक्ति विरक्ति के कठिन और साधना पूर्ण आवरण में, न जाने—कितनी विमूढ़ता, कितना उन्माद और कितनी सुषुप्ति ला देती है !!!
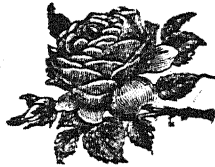
बलिदान

"गृहस्थ में रह कर मैं कुछ नहीं कर सकता। सारा जीवन इसी जञ्जाल में बिताना अपने मनुष्य जन्म को नष्ट करना है।"

"नहीं, ऐसा नहीं है। गृहस्थ-धर्म सब धर्मों से श्रेष्ठ है। यह सेवा-धर्म है। मनुष्य गृहस्थ-धर्म में रह कर जैसी सेवा कर सकता है, वैसी संन्यासाश्रम में जाकर नहीं कर सकता। इसमें उपकार करने का बड़ा अवसर है। तुम अभी गृहस्थ में रहो और एक सद्-गृहस्थी की भाँति अपना कर्त्तव्य पालन करते रहो।"

"अम्मा! अब मुझसे गृहस्थ में न रहा जायगा। मुझे आत्मोद्धार करने दो।"

बच्चा ! कर्मों के किए बिना अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती, ज्ञान नहीं प्राप्त होता। कर्म करने से ही मन और बुद्धि के मल दोष धुल जाते हैं, और तभी मनुष्य को तत्व-ज्ञान और आत्म-बोध होता है। केवल सन्यास से मनुष्य सिद्धि को नहीं पाता। देखो, पहले ज़माने में भी तो जनक, मानधाता आदि पूर्ण विरक्त थे, पर उन्होंने अपने गृहस्थ का त्याग नहीं किया और उसी में रह कर ब्रह्मानन्द प्राप्त किया। तुम गृहस्थ में रहते हुए भी सब कुछ कर सकते हो। हाँ, तुम्हें कर्त्तव्य विमूढ़ नहीं होना चाहिए और गृहस्थ में रहते हुए सन्यास की तैयारी करते रहना चाहिए। जो लोग किसी विशेष तैयारी किये बिना किसी आश्रम में चाहे वह गृहस्थ हो, वानप्रस्थ या सन्यास कोई भी हो—प्रवेश करते हैं, वहाँ जाकर भी कुछ अधिक उपयोगी बन जाते हों, या कोई विशेष कार्य करते हों, सो नहीं होता। उनका आश्रम परिवर्तन प्रायः अनधिकार चेष्टा मात्र होती है। तुम यदि सन्यास ही लेना चाहते हो, तो पहले वानप्रस्थ लो। उसके लिए स्वयं तैयार हो और अपनी स्त्री को भी तैयार करो। तुम्हारे और उसके—दोनों के—परस्पर कुछ कर्त्तव्य और अधिकार हैं और उन्हें एक दम भुला देना पाप है। आर्य संस्कृति में विवाह सम्बन्ध एक पवित्र और अटूट तथा महान दायित्व-पूर्ण सम्बन्ध है।"

"मेरा जी घर में नहीं लगेगा, यहाँ बड़े बन्धन हैं। मैं देश और जाति की सेवा करना चाहता हूं। घर में रहते हुए

नौकरी करते हुए मैं कुछ नहीं कर पाता। जनक प्रभृति महानुभावों ने जो भी, जैसा भी—कुछ किया हो, मैं उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकता। पर हाँ, मैं उनके समान कुछ नहीं कर सकता। वे महान आत्माएँ थीं। वे हमारे सामने आदर्श रूप में भले ही रहें, परन्तु रामायण काल से इस समय तक कोई दूसरा जनक नहीं उत्पन्न हुआ। स्वामी शङ्कराचार्य और दयानन्द ने तो ब्रह्मचर्य्याश्रम से ही सन्यास लिया था, परन्तु जब गौतम बुद्ध जैसे महात्मा को भी आत्म-ज्ञान तथा निर्वाण पद प्राप्त करने के लिए गृह-त्याग करना पड़ा, तो मुझ से तुच्छ जीव का इस प्रकार कैसे कल्याण हो सकेगा? निस्सन्देह गृह-पाश में जकड़ा हुआ प्राणी कुछ कर-धर नहीं सकता। अम्मा! मुझसे गृहस्थ में रहकर बलिदान का पशु नहीं बना जायगा।"

"बेटा! तू गृहस्थ में रहना बलिदान का पशु होना समझता है। यह तेरी भूल है—भारी भूल है। यह बच्चों की सी हठ छोड़ दे। कहना मान। अपने को बलिदान का पशु न समझ। करने वाले हर जगह सभी कुछ कर सकते हैं, और न करने वाले के लिए कहीं कुछ नहीं हो सकता। मनुष्य के अपने घर के अन्दर ही इतने अधिक तथा श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण कार्य हैं कि उन्हें करते हुए उसे जीवन पर्यन्त अवकाश न मिले, पर मैं तो तुझे सन्यास लेने के लिए भी नहीं रोकती। सिर्फ़ तुझे उस समय तक इस विचार को स्थगित करने के लिए कहती हूँ, जब तक तुम दोनों उसके लिए अच्छी तरह

तैयार न हो जाओ। हर एक बात समय समय पर अच्छी होती है। अभी तू सन्यास के लिए सर्वथा अयोग्य है। जा, सन्यास की तैयारी कर। अभी तुझे अपनी त्रुटियाँ नहीं मालूम होतीं। पर जब तू अपनी तैयारी में शुद्ध हृदय से संलग्न होगा, तब तुझे मेरी बात की सत्यता प्रकट होगी। तुझे इस तैयारी के लिए बहुत काम करना है। झूठे या मन्द बैराग्य में ऐसा ही होता है। अभी तू अपना आत्मोद्धार करना चाहता है। फिर तू अपना और अपनी दुलहिन—दो आत्माओं का उद्धार कर सकेगा। और तुम दोनों के सत्संग और मूर्तिमान उदाहरण से न जाने कितनी आत्माओं का उद्धार होगा। तेरा संकल्प शुभ है। यह निरर्थक नहीं जायगा।"

माता के इस उत्तर को पाकर वह अपने संध्या-भवन में चुप-चाप चला गया।

× × × ×

"भगवन्! क्या मेरी इच्छा पूरी न होगी? मैं यों ही गृहस्थ का कीड़ा बना हुआ मर जाऊँगा?"

"नहीं, ऐसा नहीं होगा। अपनी माता का कहना मान और उस पर विश्वास कर। वे तेरे कल्याण के लिए ऐसा उपदेश करती हैं।"

"क्या ये सात्विक इच्छाएँ यों ही रहेंगी? क्या ये जीवन के शुभ्र उत्कर्ष, उज्वल मनोभाव कभी पूरे नहीं हो सकेंगे ····? प्रभो!······प्रभो······!!"······वह रोने लगा···

उस रोदन में व्यथा थी......एक भयङ्कर जलन थी !

"सारा ब्रह्माण्ड बलिदान के सहारे खड़ा हुआ है। यदि बीज अपने को मिट्टी में न मिलावे, वह गले-सड़े नहीं, तो विशाल वृक्ष कहाँ से हो, फूल के रङ्ग-बिरङ्गे शिगूफे कहाँ से फूटें, खुशनुमा चमन कहाँ से पैदा हो ? यह सब एक बीज के बलिदान का ही चमत्कार है।"

"मैं आत्मोद्धार चाहता हूं। गृहस्थ में इसके लिए अनेक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होंगी।"

"विघ्न-बाधाओं के पड़ने से ही तो आत्मोद्धार का मार्ग सरल बनेगा। विघ्नों से मत घबराओ। इनका सहर्ष स्वागत करो। इन से तुम्हें ज्ञान का प्रकाश मिलेगा और तुम्हें अपने कल्याण का मार्ग स्पष्ट देख पड़ेगा। गृहस्थ की विघ्न-बाधाओं के डर से सन्यास में आत्मोद्धार की कल्पना करना कायरता और अधम स्वार्थपरता मात्र है। इस भावना का एक दम परित्याग करो। गृहस्थ में बलि चढ़ जाने की इच्छा से तुम्हारी उन्नति का मार्ग खुल जायगा।"

"(हाथ जोड़ कर) प्रभो ! अच्छा, मैं अभी सन्यास न लूँगा। आत्मोद्धार की इच्छा न करूंगा। मुझे केवल बलि चढ़ जाने की शक्ति प्रदान कीजिए।"

"तथास्तु, जा तेरा आत्मोद्धार हो गया।"

× × × ×

हाय ! मैं घर की माया छोड़ कर जङ्गल के दफ़ीने के पीछे भटक रहा था। गृहस्थ के सेवा धर्म से कर्त्तव्य विमूढ़ होकर सन्यास से आत्मोद्धार की खोज कर रहा था। कैसा धोखा था ? कितनी भयङ्कर भूल थी ? मानवी जाति की सामाजिक तथा आत्मिक सभी तरह की सफलता आदर्श परिवार पर निर्भर है। सदाचार, सद्-व्यवहार आदि समस्त सद्-गुण सीखने का सब से अच्छा विद्यालय परिवार ही है। पर उसमें सद्भाव सुशिक्षा और स्वच्छता होनी चाहिए। कुल पति को चाहिए कि वह प्रत्येक की आध्यात्मिक, मानसिक, नैतिक और शारीरिक शक्तियों के विकसित करने की यथा साध्य चेष्टा कर, अपना ऋण चुकावे। देश और जाति के हितार्थ मर जाना ही बलिदान नहीं है, बल्कि उसके लिए जीना भी सर्व-श्रेष्ठ और परम पवित्र बलिदान है।

जीवन
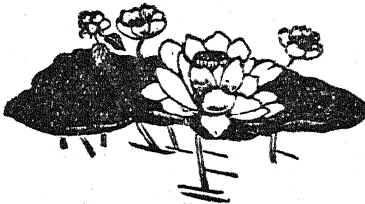
"मैं प्राण दण्ड सहर्ष सह लूँगा। मैं उसके लिए प्रस्तुत हूँ। मृत्यु! आ, प्यारी मृत्यु, आ! मैं तुझ से बड़े प्रेम के साथ गले मिलूँगा। तू तो मेरे 'पिया-मिलन की आस' है। तूने मुझे अनन्त जीवन प्रदान किया है, अनन्त प्रकाश का प्रदर्शन कराया है। और अब फिर कराएगी। यह शरीर अनित्य और विनाशवान है। इसे त्याग कर मैं इस से अधिक सुन्दर और पवित्र शरीर धारण करूँगा। फटे-पुराने और जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को उतार कर सुन्दर, नवीन कपड़ा पहनते हुए किसे आनन्द नहीं होता?"

उस देश-भक्त ने देश के हितार्थ काले क़ानून को मानना अपने अन्तःकरण के अनुकूल न पाया और उसके विरुद्ध उसने घोर आन्दोलन किया। इसके पुरस्कार-रूप में उसे राज्य की ओर से प्राण-दण्ड की आज्ञा मिली है। आज उस आज्ञा के अनुसार उसे एक वृक्ष के साथ ज़न्जीरों द्वारा ख़ूब कसकर बाँध दिया गया है। और अब उसे तीक्ष्ण तीरों से वेध दिया जावेगा। हा! प्राण दण्ड भी कितना कठोर और अमानुषिक-काण्ड है। दण्ड-विधान समाज-सुधार के लिये होता है। यह केवल एक सदाचार सम्बन्धी साधन है। इसे सुधार का ठीक वैसा ही साधन रहना चाहिये, जैसे किसी काम के लिए औज़ार है। परन्तु पता नहीं प्राण दण्ड की यह अमानुषिक प्रणाली कब और कैसे प्रचलित हो गई। लो, देखो, वह ग़रीब अब केवल कुछ ही क्षणों का अतिथि है। क्या वह कुछ कहना चाहता है? हाँ, सुनो, वह कुछ कहता है:—

"मुझे प्रसन्नता है कि मैंने अपने देश और जाति के लिए कोई पाप और अधर्म का काम नहीं किया। मैंने अपनी नीति-रीति सदा स्पष्ट और निष्कपट रक्खी। अपने स्वार्थ और प्रतिष्ठा के लिए मैंने कभी देश हित और देश-सेवा का आडम्बर नहीं रचा। मेरा जो और जैसा सिद्धान्त था, उस पर मैं अटल रहा और उसके निभाने के लिए मैंने सदा भरसक यत्न किया। किसी मान्य, या पूज्य अथवा प्रिय

व्यक्ति के लिए भी उसे त्यागना स्वीकार नहीं किया। पाप और अत्याचार के कामों में सहयोग करना मैंने महापाप समझा। पापी और अधर्मी राजा की आज्ञा मानना और अन्याय के आगे सर झुकाना मेरे लिए असह्य और अत्यन्त कष्ट-प्रद है। मैं प्राणों का त्याग कर सकता हूं, पर सत्य और धर्म का परित्याग करना मेरे लिये अम्सभव है। मेरे प्राणों के प्यासे, मेरी जान के भूखे! तुम मेरे प्राण लेना चाहते हो, ले लो। मैं उसे प्रसन्नता के साथ देने के लिये तैयार हूँ। परन्तु तुम मेरे उस प्रेम को नहीं पासकते। वह तो जिसकी वस्तु है, उसी के पास जायगी। तुम्हारे हाथ केवल शरीर लगेगा और इस पर ही तुम्हारा थोड़ा बहुत बस चलता है। पर स्मरण रहे, यह निष्पाप और निर्दोष हत्या एक दिन रङ्ग लाएगी। और पापियों को अपने इस पाप के लिए घोर प्रायश्चित्त और पश्चाताप करना होगा। पापी को मारने के लिए उसका पाप ही काफ़ी..........."

इतने में एकाएक गला रुँध गया और उसका बोलना बन्द हो गया। बाणों के घावों ने अधिक बोलने न दिया। मस्तक झुक गया। अविनाशी आत्मा शरीर को छोड़कर परमधाम को चली गई और देवताओं ने वहाँ उसका हर्ष पूर्वक स्वागत किया।

वह एक वीर आत्मा थी। बाणों के तीक्ष्ण सिरों ने उसका कलेजा बेध डाला था। उस पर तीरों की वर्षा हुई थी।

परन्तु आह! उस वीर ने ज़रा भी आह न की। उसका चेहरा तनिक भी मलिन नहीं हुआ। वही निर्भीक शान, वही विमल कान्ति, हां वही गम्भीर शान्ति अन्त समय तक बनी रही। और ऐसा मालूम होता था कि उसका उपदेश मानों अभी तक जारी है।

प्राण-दण्ड के पक्षपातियों! तुम प्राण तो लोगे ही, और लेते ही हो। पर यह कहाँ का न्याय है कि जिस चीज़ को तुम दे नहीं सकते, उसके लेने का तुम्हें अधिकार हो। जीवन केवल ईश्वर की देन है। यह उसी को लेना भी चाहिये। धन, सम्पत्ति इत्यादि सांसारिक वस्तुओं का विनिमय हो सकता है पर शरीर से निकला हुआ प्राण फिर वापस नहीं आ सकता। तुमने इस अपराधी के प्राण ले लिये हैं; अब यदि तुम्हें स्वयं इस पर दया आये, या, अपनी भूल जान पड़े, तो तुम क्या कर सकते हो। कुछ नहीं, मजबूर हो एकदम मजबूर हो, न्याय ने भी मनुष्य की विपन्नता को घटाया नहीं, कुछ बढ़ाया ही है।

उस वीर पुरुष की वीर आत्मा अपने नश्वर शरीर को छोड़कर अमर धाम को चली गई परन्तु देखने-सुनने वालों को बता दिया कि मृत्यु किसे कहते हैं और जीवन किसका नाम है। दर्शकों और साधारण पुरुषों को जाने दो, न्यायाधीश को किसी अपराधी के चरित्र और आत्मा की सराहना करने की ज़रूरत नहीं है, पर वह भी इस दृश्य को देखकर प्रभावित

हुए बिना न रह सका। मरना इसी को कहते हैं। वीरोचित मरना ऐसा ही होता है। पर क्या यह वस्तुतः मरना है ? क्या यह मृत्यु है ? नहीं, नहीं, यह तो जीवन है—अमर जीवन है। ऐसा मरना मरना नहीं होता, यह जीना है और मरे हुए लोगों को जिलाना है। बलिवेदी का पवित्र रक्त जहाँ गिरता है, वहीं देश और जाति के सच्चे शहीद और वीर पुरुष उत्पन्न होते हैं। कौन अस्वीकार कर सकता है कि यह मृत्यु, ऐसी मृत्यु बहुतों को जीवन प्रदान करने वाली नहीं होती और इससे मरने वाला अमर जीवन प्राप्त नहीं करता ? सच्चे और वीर जीवन की यही परीक्षा है।

धर्म-निष्ठा

अरे ! क्या अधर्म होगा ? सब के सामने होगा और कोई हाथ उसको रोकने के लिए नहीं उठेगा ? कितने ग़ज़ब की बात है। क्या यह आर्य राज्य में एक आर्य राजा के जानते हुए होता है ! राजा सब कुछ कराता है । हा ! राज्य में अन्धेर पड़ गया। राज्य डूबने को है। डूब जायगा। यह अन्याय ईश्वर से न देखा जायगा। पाप की नाव बहुत जल्द बैठने वाली है।

× × ×

हम पर जैसा कुछ हो रहा है, जैसी कुछ बीत रही है, वह हम ही जानते हैं, उसके कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं है।

हमारी मान-प्रतिष्ठा, हमारा धन-दौलत, हमारी जान व माल की रक्षा तो दूर रही, हमारी बहू-बेटियों का राह निकलना कठिन हो गया है। हाय कितनी बड़ी मुसीबत है, कितनी भारी आपत्ति है! देवियों का सम्मान–किन देवियों का? उन पवित्र और धर्म निष्ठ देवियों का सम्मान, जिनका सतीत्व उज्वल है जिन की कीर्ति विमल है, जिनका पातिव्रत-धर्म्म अचल और अटल है; जिनकी धृति पृथ्वी के समान है, जिन की कर्त्तव्य-निष्ठा और धर्म परायणता प्रसिद्ध है; जो अपनी धर्म-रक्षा में जल गईं, मर गईं और भस्म होगईं परन्तु जिन्होंने जीते जी अपने शरीर को दूसरों से स्पर्श न होने दिया। उन देवियों का, उन स्वर्गीय आत्माओं का सम्मान आज इस राज्य में नहीं है।

हम लोगों का अपमान पर अपमान हो, हमारी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिले, हमारा धन और धर्म लूटा जाय; हमारी आबरू बे आबरू हो, हमारे नाती-पोते, भाई-भतीजे, पुत्र-कलत्र, स्त्री को कुसूर-बे कुसूर कारागार में डाला जावे। उनके चूतड़ों पर बेंत और कोड़े लगें और हम रोएँ चिल्लाएँ नहीं, शोक न करें, हड़ताल न मनाएँ। कहो कैसा अन्धेर है? कितना जुल्म है? हा! हमारी बहू बेटियाँ बन्दी की तरह घर में बन्द रहें, सड़ा करें। पाठ-शालाओं में पढ़ने तक न जा पाएँ। किसी अबला का मान जाय। उस पर बलात् आक्रमण हो, और कोई उस के सतीत्व की रक्षा में कुछ सहायता करे तो उस पर राज्य

विद्रोह का अपराध लगाया जाय! यह सब क्या है ? न्याय ? सुव्यवस्था के लिए उचित प्रबन्ध ? हम लोगों ने हड़ताल की, परन्तु राज़ी खुशी से नहीं; दुख और शोक से, मुसीबत और आपत्ति के मारे, रो के, झींक के, विवश हो के। भारी विपत्ति में पड़ने पर ही निरावलम्ब और निस्सहाय होने पर ही कोई ऐसा दुखमय और असाधारण कार्य्य करने पर बाध्य होता है। पर वह हो क्या गया ? राजविद्रोह! हाय, हाय कितना बड़ा अन्याय और अत्याचार है ? आर्य देश में, और आर्य राजा की आँखों के सामने, राजधानी के अन्दर!

हमने अपनी विवशता को, अपने दिल को, दिल के सारे भावों को महाराज के सामने रख दिया है। हम नहीं चाहते थे कि अपने मुख से, अपने राजकुमार या किसी उच्च अधिकारी, राज्य के किसी सरदार, न्यायाधीश अथवा पुलिस आफिसर के विरुद्ध कुछ कहें-सुनें। परन्तु श्रा० महाराज की आज्ञा को शिरोधार्य्य रख कर ही इन दो शब्दों के कहने का—वह भी डरते-डरते—साहस हुआ है। देखें, महाराज क्या निर्णय करते हैं। चलिए उसे सुनें।

× × ×

मामला साफ़ है। जाँच से अपराध सिद्ध हो चुका। अपराधियों को सफ़ाई का पूरा-पूरा मौक़ा दिया गया। अब कोई विशेष कार्रवाई शेष नहीं रही। प्रजा पर अन्याय करना घोर पातक है। न्यायाधीशों को किसी का पक्षपाती न होना

चाहिए। न्यायासन पर बैठकर जो न्याय नहीं करता और सत्य का तिरस्कार करता है, वह ईश्वर तथा देश दोनों का द्रोही है।

पुलिस की कार्रवाई बहुत बेजा और असंगत थी। उन्होंने प्रजा का रक्षक होकर भक्षक का कार्य किया है।

कर्मचारियों की धींगा-धींगी में कोई सन्देह नहीं पाया गया, अनेक निरापराधियों को जेल में ठूंस दिया गया। क्यों? इसका कुछ उत्तर नहीं। पुलिस आफिसर की रिपोर्ट और सिफ़ारिश! तैयार की हुई गवाहियाँ। किसी ने कोई चश्म-दीद वाक़या नहीं बताया।

युवराज का यह बड़ा ही जघन्य कार्य था। वह इस षडयन्त्रमें अवश्य सम्मिलित था। था ही नहीं; यह सब लीला उसी की प्रतीत होती है। एक युवराज, राज्य का उत्तराधिकारी होकर अपने पुत्रवत प्रजा के साथ ऐसा व्यवहार करे। यह कभी क्षन्तव्य नहीं हो सकता।

(मन में) युवराज के वियोग का दुख मुझे सहन करना होगा। न्यायशील मनुष्य को न्याय की रक्षा के लिए सब कुछ सहना चाहिए। उसे उसके लिए अपने प्राणों तक की परवा न होनी चाहिए। युवराज मेरा इकलौता पुत्र है। उस के वियोग का दुख मुझे असह्य और प्राणघातक होगा। परन्तु धर्म का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। लोकमत का निरादर नहीं हो सकता। न्याय की आज्ञा पालन करनी ही

होगी। युवराज की माता को दारुण दुख होगा—ऐसा दारुण दुख होगा कि वह उसके विरह में एकदम पागल और अचेत हो जायगी। पर हो जाय। मैं न्याय और कर्त्तव्य-पालन को धर्म मानता हूँ। मैं युवराज का पिता ज़रूर हूँ, पर अपने राज्य का राजा भी तो हूँ। आर्य राजा मोह ममता में अधर्म नहीं कर सकता, न्याय से आँख नहीं मूँद सकता। वह करेगा वही कार्य जो उसका कर्त्तव्य बतलाएगा; वह उसी पथ पर जाएगा जिसे कर्त्तव्य प्रदर्शित करेगा। मैं आर्य हूँ। मुझे अपने आर्यत्व पर अभिमान है। कर्त्तव्य-काल में मोह और दया की दलदल में फँस जाना आर्य्यों का काम नहीं है। प्राचीन समय में आर्य्य राजाओं ने सब तरह की कड़ी से कड़ी, ज़लील से ज़लील मुसीबतें उठाईं, दुख दर्द सहे, प्राण दिए, प्राणों से प्यारे पुत्र और प्राणों से प्यारी प्राणेश्वरी का—और वह भी गर्भवती होने की दशा में—परित्याग किया, परन्तु अपना धर्म, अपना कर्त्तव्य कभी और किसी दशा में भी परित्याग नहीं किया। मैं भी अपने कार्य और कर्त्तव्य से कभी च्युत नहीं होऊँगा। मुझे कितना ही घोर दुख हो, कैसी ही हार्दिक वेदना हो, कोई कुछ कहे-सुने, मेरा कुछ भी हो, कितनी ही हानि और अनर्थ हो, पर मैं प्रेम और मोह से कर्त्तव्य-पथ से नहीं हटूँगा। मैं राजा होकर, न्याय सिंहासन पर बैठ कर दया और मोह के पाप-पङ्क में नहीं फँसना चाहता।

(मन्त्री से) मन्त्री जी ! आज्ञा सुनाओ।

मन्त्री आज्ञा सुनाता है:—

पिछले सब क़ैदी रिहा। युवराज को आजीवन देश निकाला। न्यायाधीशों और पुलिस अफ़सरों को पाँच पाँच वर्ष का कारावास और दस-दस हज़ार रुपया जुर्माना। जुर्माना न अदा करने पर दो-दो वर्ष की और क़ैद।

× × ×

पक्षपात रहित न्याय करना और देश तथा प्रजा के हित-सम्पादन में निःस्वार्थ भाव से संलग्न रहना ही राज्य की सच्ची धर्म-निष्ठा है।

अनुभव
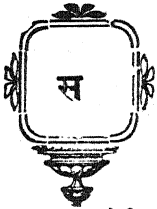
सब ही स्वार्थी, दग़ाबाज़ अपने मतलब के साथी ! कोई किसी का नहीं। माँ-बाप; दोस्त-आशना, बीबी-बच्चे, ये सब उस समय तक अपने हैं, जब तक इन का स्वार्थ हम से निकलता है। इसके पश्चात् कोई कुछ नहीं। हाँ, ग़ैर शायद कुछ हों, कुछ हो सकें, पर यह अपने कहलाने वाले ग़ैरों से भी नम्बर ले जाते हैं। यह दुनियाँ धोखे की टट्टी है, माया का जाल है। इससे बचो, दूर हटो, भागो; इसे पास न फटकने दो। यह डाइन है, खा जायगी, तबाह कर डालेगी। इसे छोड़ो, इससे पीछा छुड़ाओ। तभी—हाँ, तभी तुम्हारी कुशल है, तुम्हारा भला है।

× × ×

मनुष्य एक सोचने-विचारने तथा समझने वाला प्राणी है, पर उसके दृष्टि-कोण की विभिन्नता बड़ी विलक्षण होती है। वह कभी कुछ का कुछ—सीधे का उल्टा, उल्टे का सीधा इत्यादि—समझ कर क्या से क्या कर बैठता है और फिर परिणाम-स्वरूप आप दुखी होता और दूसरों को दुखी करता है। इस विपरीत बुद्धि का कारण क्या है? हमारी स्वार्थपरता और संकीर्णता, हमारी अदूरदर्शिता और अहङ्कार—हमारी दृष्टि और विचारों पर इतना गाढ़ा रङ्ग चढ़ा देते हैं कि हमें अपने सामने दूसरे के सत्य और समुचित विचार भी ग़लत और ओछे प्रतीत होते हैं। हम इस बात को एकदम भूल जाते हैं कि एक ही सत्य के अनेक रूप होते और हो सकते हैं। हमने किसी विषय पर जो विचार निश्चित किया है, वह उस सत्य का एक रूप हो सकता है। ऐसे ही, दूसरों के भी उस विषय पर जो और विचार हैं, वे भी उसी सत्य के ही अन्य अङ्ग तथा रूप हैं और हो सकते हैं। यह केवल दृष्टि-कोण की विभिन्नता है और वह बहुत कुछ स्वाभाविक भी है। यह विभिन्नता हमारे स्वभाव-भेद, देश-भेद, कर्तव्य-भेद, जाति-भेद, स्थान-भेद, तथा ज्ञान, बुद्धि आदि के अनेक भेदों से भी होती और हो सकती हैं। हमें दूसरों के मत-भेद पर आपे से बाहर नहीं हो जाना चाहिए, बल्कि अपनी सहनशीलता और सहिष्णुता का परिचय देना चाहिए। ऐसे अवसरों पर मनुष्य जितनी उदारता और विचार-शीलता से काम लेगा, उतना ही वह

अपने और दूसरे को पहचान सकेगा और पारस्परिक हित-सम्पादन करने के योग्य होगा। दृष्टि-कोण के भेद से वस्तुओं के अनुभवों में भी बहुत अन्तर पड़ जाता है, पर हमें इस अन्तर को अशुद्ध और दोषयुक्त नहीं समझना चाहिए, बल्कि उसको एक साथ मिला कर देखना चाहिए। उससे हमें वस्तु का विशेष ज्ञान प्राप्त होगा, उसकी विचित्र सुन्दरता की झलक मिलेगी और हमारा मन प्रसन्न होगा। मिल कर विचार करने और सभा-समाज बुलाने का य ी तो अभिप्राय होता है। प॰, अफ़सोस! हमारी स्वार्थ बुद्धि और संकीर्णता के कारण हमें किसी विशिष्ट ज्ञान के बदले प्रायः विशेष मनोमालिन्य ही उपहार में मिलता है।

शरीर की तरह मन भी मनुष्य का एक वाहन है—अतीव सुन्दर, परमोपयोगी और विचित्र वाहन है। जिस प्रकार हम शरीर को किसी पदार्थ के आस पास घुमाकर भिन्न-भिन्न दृश्य देख सकते हैं, उसी प्रकार मन को भी भिन्न-भिन्न अवस्था में ले जाकर प्रत्येक विषय का ज्ञान भिन्न प्रकार से कर सकते हैं। बूढ़ा अपने को बच्चे की अवस्था में रख कर उसके विचारों को समझ सकता है। हिन्दू किसी विषय को अहिन्दू आँख से देख कर उसके हृदय और मस्तिष्क को जान सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य दूसरे के हृदय में प्रवेश कर, उसके विचारों को, उसके भावों को, उसकी ही आँखों से देख और समझ सकता है। पर उसके लिए

आवश्यकता है, मानसिक शिक्षा की, मन को पूर्णतया क़ाबू में लाने की, सङ्कीर्णता और पक्षपात के दुर्भावों को एकदम हृदय से बहिष्कृत करने की।

मन पर आधिपत्य जमा लेना सरल नहीं है, पर बहुत कठिन भी नहीं है। निपुणता तो निस्सन्देह कठिन परिश्रम और दीर्घ तपश्चर्या के पश्चात् ही सम्भव है, पर कुछ अंश तक दूसरे की दृष्टिकोण से किसी विषय को देखने का अभ्यास कोई भी सरलता से कर सकता है। इससे भी उसे आशातीत लाभ होगा। उसका जीवन कुछ का कुछ होजायगा। संसार उसके लिए कोई भयानक वस्तु नहीं रहेगा। प्रत्येक पदार्थ का रूप-रङ्ग ही कुछ उसके सामने और हो जायगा। सत्य के भिन्न-भिन्न रूपों को देखने से ईश्वरीय शोभा, ईश्वरीय सौन्दर्य की झलक उसकी आँखों में झलकने लगेगी। उसका हृदय विचित्र आनन्द से भरा होगा। उसकी समझ, उसके विचार, उसके भावों में उच्चता, पवित्रता एवं दृढ़ता की वृद्धि होगी। उसके व्यवहार में किसी प्रकार की कट्टरता, मदान्धता, हठवादिता एवं पक्षपात का नाम नहीं रहेगा। उसमें मनुष्यता होगी, मनुष्यत्व के उच्च ज्ञान का प्रकाश होगा। उसका मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास बढ़ेगा, और जिससे उसका सामीप्य होगा, वह प्रसन्नचित्त और सुखी रहेगा। एक दूसरे के दृष्टिकोण को जान लेने से पारस्परिक झगड़े ही नहीं मिट जाते, बल्कि दो हृदयों का मधुर मिलन हो जाता है। एक

यथार्थ उपकार करने में बड़ी सुगमता और सहायता मिलती है। क्यों? इस लिए कि जब तक मनुष्य किसी को कुछ समझता नहीं, वह उसका यथेष्ट उपकार ही क्या और कैसे कर सकता है? बस, हमें चाहिए कि किसी की टीका-टिप्पणी करने के पहले हम उसे और उसके विचारों की विभिन्नता के कारण जान लें। इससे हमें कभी वैर-विरोध, कलह-क्लेश और शिकवे—शिकायत का अवसर ही न रहेगा, साथ ही प्रत्येक के विचारों की बारीकियाँ और सुन्दरता भी प्रकट होगी। मनुष्य इस संसार में चाहे रोता हुआ भले ही आया हो, पर इस प्रकार का अनुभव प्राप्त कर लेने के पश्चात् वह जायगा, यहाँ से हँसता-हँसाता हुआ ही।

प्रार्थना

थुरा के डिस्ट्रक्ट मैजिस्ट्रेट की अदालत में मुक़द्मा पेश है। अदालत का कमरा दर्शकों, वकीलों और कचहरी के अमलों से खचाखच भरा हुआ है। अमुक पत्र के सम्पादक अमुक……व्यक्ति के मुक़द्मे की तजवीज़ आज सुनाई जायगी। मूल लेखक क्षमा माँग कर मुक्त हो गया है। पर सम्पादक ने अभी तक क्षमा-याचना नहीं की। सभी ओर से उस पर दबाव डाला जा रहा है। कच्ची गृहस्थी है। घर में छोटे छोटे बच्चे हैं। स्त्री प्रायः बीमार रहती है। एक दिन अगर अधिक तबीयत खराब हो जाय, तो बच्चों का कोई देखने सुनने वाला नहीं।

आज सम्पादक जी जब घर से चले थे, तो बच्चों ने मथुरा से पेड़े और खिलौने मँगाये थे, स्त्री ने घर की स्थिति की ओर संकेत कर यह कहा था कि जैसा उचित समझना, करना। मुझे अपनी चिन्ता तो अधिक नहीं है, पर बच्चे हुड़क जायँगे, उन्हें कोई बहलाने वाला भी नहीं है।

सम्पादक जी के सामने इन्हीं सब घटनाओं का चित्र खिंचा हुआ है। एक विचार आता है, एक जाता है। पर वह कुछ निश्चय नहीं कर पाते। इतने में कचहरी की सड़क पर मुड़ती हुई मोटर दिखाई पड़ी और वह बात की बात में अदालत के बरामदे के सामने खड़ी हो गई। कमरे के बाहर-भीतर थोड़ी देर के लिए बिल्कुल निस्तब्धता सी छा गई। मैजिस्ट्रेट अन्दर जाकर अपनी कुर्सी पर बैठ गया और सम्पादक जी अपनी मित्र मण्डली से कुछ हट कर कचहरी के सामने के मैदान में एक वृक्ष के साये में ध्यानावस्थित होकर बैठ गये।

× × ×

"पण्डित्......हाज़िर है?"

इस आवाज़ को सुनकर एक आदमी अदालत के कमरे में दाख़िल हुआ। कुछ लोग कमरे से निकल कर बाहर उसे लेने आये और कुछ पहिले से ही उसके साथ में थे। ये लोग घबराये हुए और परेशान से मालूम होते थे, परन्तु इस आदमी के चेहरे पर ज़रा भी घबराहट और परेशानी के चिह्न नहीं

थे। यह सदा की भाँति बिलकुल शान्त और गम्भीर था।

अब वह मैजिस्ट्रेट के सामने खड़ा हुआ है। कुछ लोग उसे और कुछ मैजिस्ट्रेट को देख रहे हैं और कई एक आपस में काना-फूसी सी करते हुये देखे जाते हैं। इसी बीच में आवाज़ आई।

"वेल! क्या तुम माफ़ी माँगता है?"

"नहीं।"

"अच्छा! तुम पर पाँच सौ रुपया जुर्माना। और जुर्माना न देने पर छः महीने की क़ैद! तुम जुर्माना देगा।?"

"नहीं।"

"फिर क़ैद जायगा?"

"हां।"

पीछे खड़े हुये पूलीस के सिपाही ने अपराधी के हाथ में हथकड़ी डाल दी और उसे हवालात की ओर ले चले।

कमरे के बाहर होने वाले जय-घोष और विजय-नाद से कचहरी का सारा अहाता गूँज उठा। जो बोले, अभय, वैदिक धर्म की जय, ऋषि दयानन्द की जय। बन्दे मातरम्!!!

× × ×

हवालात के दरवाज़े पर लोगों की भीड़ लगी हुई है। अपराधी के पवित्र दर्शन करने के लिए वे एक पर एक टूटे पड़ते हैं। दर्शकों में बेतरह जोश फैला हुआ है। जैसा जिसके

मन में आता है, कह रहा है। कोई सम्पादक के आत्म-बल की प्रशंसा करता है, तो कोई अदालत के फैसले पर नाक भौं चढ़ाता है। किसी को मूल लेखक महाशय की क्षमा-याचना ही खटक रही है। इतने में हवालात का दरवाज़ा खोल दिया गया और एक सरकारी आदमी ने आकर अपराधी से कहा, कि तुम्हारा जुर्माना तुम्हारे साथियों ने अदा कर दिया है। अब तुम स्वतन्त्र हो।

× × ×

सम्पादक जी प्रार्थना की वर्तमान पद्धति से असन्तुष्ट रहा करते थे और सभा समाज में जब कभी उन्हें ईश्वर प्रार्थना करने को कहा जाता था, तो वह इनकार कर देते थे। उस दिन जब उन्हें कुछ लोगों ने वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित होकर प्रार्थना करते हुए देखा था, तो उन पर आपत्ति करना चाहते थे। परन्तु अवसर अनुकूल न समझ कर उस समय वह चुप रहे। अब जब कुछ दिन इस घटना को बीत गये तो उन्हों ने सम्पादक जी से इस विषय की चर्चा की।

सम्पादक जी ने कहा, "हाँ, मैंने ईश्वर प्रार्थना की और मुझे उसका तत्काल फल भी मिल गया। तुम जानते हो, मुझे लोग क्षमा याचना करने के लिए कितना मजबूर कर रहे थे। तुम्हें यह भी मालूम है कि मेरे घर की परिस्थिति कैसी नाज़ुक है। इन्हीं सब झगड़ों पर विचार करने से मैं कुछ अपने में कमज़ोरी पाता था और मुझे पथ-भ्रष्ट हो जाने का

भय हो गया था। इसी लिए मैं ने ईश्वर से आत्म-बल की प्रार्थना करते हुए अपने विचारों में दृढ़ रहने की प्रतिज्ञा की। इसके बाद जो कुछ हुआ, वह तुम ने देख ही लिया। भै कहने की ज़रूरत नहीं।"

× × ×

तुम नित्य प्रार्थना करते हो, पर तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार नहीं होती! क्यों?

इसका कारण है, तुम प्रार्थना नहीं करते, भीख माँगते हो; याचना करते हो, गिड़गिड़ाते हो। अपनी दीन-हीन दशा पर रोते और झींकते हो, पर हाथ पैर नहीं हिलाते, कुछ करते-धरते नहीं। ईश्वर ने तुम्हारी आवश्यकताओं के पूर्ण करने के लिए तुम्हें मन, अन्तःकरण, हाथ-पाँव, शरीर इन्द्रियादि सभी साधन दे दिये हैं। तुम इन से यथेष्ट कार्य नहीं लेते हो, और ज़बानी जमा खर्च से लाभ उठाना चाहते हो। यह असम्भव है। ईश्वर ऐसी निर्जीव और पुरुषार्थ-हीन प्रार्थना नहीं सुनता। तुम्हें सजीव और पुरुषार्थ-पूर्ण प्रार्थना करनी चाहिये। प्रार्थना का अर्थ है चाहना (Wish, aspiration) और प्रतिज्ञा करना। शुभ इच्छा और शिव सङ्कल्प ही प्रार्थना का आशय है। हमें ईश्वर-स्तुति से ईश्वर के गुणों को जानना चाहिये, और प्रार्थना द्वारा दृढ़-प्रतिज्ञ होकर कर्म में दत्तचित्त होना चाहिये। यही प्रार्थना है और ऐसी ही प्रार्थना का वैदिक-साहित्य में आदेश है।

आत्म-समर्पण

तुम्हें देखता हूँ। कहाँ? जल-थल में, जलते हुए अनल में, स्वच्छ और निर्मल आकाश में, रङ्ग बिरङ्गे बादलों में, अँधेरी रात के चमकते हुए तारों में, पहाड़ों—कन्दराओं के एकान्त में, हवा की सनसनाहट में, नदियों की तरङ्गों में, फूल-पत्तियों में, मनुष्यों में, पशु-पक्षियों में। जीवन धन! मैं तुम्हें सर्वत्र देख रहा हूं। तुम मेरी दृष्टि में हो। तुम मुझसे छिपकर कहाँ जा सकते हो? कहाँ छिप सकते हो? निस्सन्देह तुम छलिया हो। तुम्हें छलना खूब आता है। पर मैं भी अब तुम्हारे दाँव घातों को खूब जान गया हूँ। ऐं! क्या छिप गये? लो वे छिप गए। कहाँ छिपे? पता नहीं।

इस बार बुरे छिपे हैं। मैं कहाँ जाऊँ ? कहाँ ढूंढूं ? सारी जगह तो देख आया, पर वे मिलते नहीं। भाई, ऐसे छिपने की सही नहीं। मैं थक गया, आजिज़ आगया। ऐसा भी खेल क्या, जिसमें कोई इतना परेशान हो जाय !

प्रभो ! अब सामने आओ। बहुत हो चुकी। तुम यदि इस प्रकार छिपते रहोगे, तो फिर खेल का आनन्द ही क्या रहेगा ? अब प्रकट हो जाओ, तङ्ग न करो। क्यों सुनते हो न ? तुम्हीं से कहता हूँ। तुम कहीं दूर छिपे होगे, सो मैं नहीं मानता। तुम यहीं निकट ही कहीं होगे। पर मैं तुम्हें नहीं पाता। मुझे अपने चातुर्य्य और बुद्धि, कौशल पर गर्व था। मुझ में कुछ अहङ्कार आगया था। क्या इसी से मैं तुम्हें देख नहीं पाता ? अच्छा, अब क्षमा करो और अपना दर्शन दो। मैं बड़ा व्याकुल हूं। क्या मेरी आवाज़ तुम्हारे पास तक नहीं जाती ? तुम मेरी बात नहीं सुनते ? लो, देखो वह बोले—"मैं यहाँ हूँ, मैं यह हूँ, मुझे देखो······मुझे पकड़ो।"

मैंने आवाज़ की ओर दौड़ कर उन्हें पकड़ना चाहा। वे वहाँ से कहीं अन्यत्र छुप गए। एँ ! बड़ी मुश्किल हुई। वह आवाज़ तो इसी ओर से आई थी। आवाज़ क्या ? मैंने तो उन्हें स्वयं भागते हुए देखा है। फिर भाग कर गए कहाँ ? यहाँ तो छिपने के लिए कोई ऐसा गुप्त स्थान भी नहीं है, जहाँ किसी की दृष्टि न जा सकती हो। आश्चर्य्य है, और आश्चर्य्य भी कैसा ? कुछ समझ में नहीं आता। क्या रहस्य है ? मेरी

दृष्टि का दोष है। मेरे कानों का क़सूर है ? या मुझे ही कुछ भ्रम हुआ है। आख़िर है क्या ? कुछ ही हो, अब मुझ से ढूंढ़ा न जायगा। मैं बुरी तरह से तङ्ग आगया, थक गया। कोई कहाँ तक हैरान हो ? कुछ ठिकाना है ? कितनी देर से खोज रहा हूँ, तलाश कर रहा हूँ। लेकिन भाई, बड़े ग़ज़ब के छिपने वाले हैं। देखते-देखते आँखों के सामने से ग़ायब हो जाते हैं, पता ही नहीं चलता। क्या अन्तर्ध्यान होना इसी को कहते हैं ? बस; लो, मैंने हार मान ली। मैं हार गया, तुम जीत गए। इस प्रकार जब मैं हार के बैठ गया, तो वह मेरे हृदय के अन्दर से बाहर निकल कर मुसकराते हुए मेरे सामने आ खड़े हुए। और मुझे अपनी इस हार में जीत का आनन्द प्राप्त हुआ।

आह ! आत्म-समर्पण भी क्या ही अमूल्य वस्तु है ? क्या ही स्वर्गीय पदार्थ है। मैं उनकी इस अद्भुत लीला पर मन्त्रमुग्ध हूं; चकित हूँ। वे मेरे अन्दर थे, और मैं उन्हें बाहर ढूँढ़ रहा था। वे मेरे पास थे, मैं दूर दूर भटक रहा था। हाँ कैसा मूर्ख हूँ ? कैसा अज्ञानी हूँ ? मैं अपनी इस मूर्खता को क्या कहूँ ? मुझे कोई कुछ कहे या न कहे। मैं स्वतः अपनी इस बालबुद्धि पर लज्जित हूँ। आज से मेरा अहङ्कार, मेरा अभिमान सब चूर चूर हो गया। मुझे अपने पाण्डित्य, बुद्धि, धर्म-निष्ठा, कर्तव्य-परायणता और कुशलता पर गर्व था। मैं अपने को हर बात में बहुत लगाता था, बहुत समझता था, पर आज पता चला कि मैं क्या हूँ; कितने गहरे पानी में हूँ। अब मैं कभी

घमण्ड नहीं करूँगा। घमण्ड का सिर नीचा होता है। पर आज मैंने सीख लिया, खूब सीख लिया। हाँ, खूब सीख लिया। आह! हमारे शुद्ध आध्यात्मिक आवरण में अहङ्कार की कालिमा पड़ गई वह उसी प्रकार तिमिराछन्न हो गया! जातीयता के घमण्ड, ऊँच-नीच के अभिमान और धर्म के मान ने तो हमारा सत्यानाश कर दिया। घमण्ड से पृथकता आती है, संगठन टूटता है, विषमता बढ़ती है, फूट फैलती है। हाय, क्या क्या अनर्थ नहीं हो जाता!

हे मदमर्दन। मुझे क्षमा दान दो, मेरे हृदय को शुद्ध और पवित्र करो। मेरा अन्तःकरण विकसित करो। उसे स्वच्छ, सुन्दर और निर्मल बना दो। तुम घट घट में विराजमान हो; मैं तुम्हारे दर्शन, तुम्हारी अलौकिक आभा का दर्शन अपने उसी अन्तस्थल में पाकर सदा मग्न और आनन्दित रहूँगा। और अपने इस जीवन को धन्य समझूँगा।

पर क्या इस दर्शन का कुछ मोल भी देना पड़ेगा? परन्तु मेरे पास है ही क्या? देव! जो कुछ था, सभी तुम्हारे चरणों में दे दिया था। आत्मा, काया, मन, और मन की सारी इच्छाएँ, सारी कामना। उस समय......तुम्हारे तेजस्पुञ्ज के उस काल में, तुम्हारे अनुपम सौन्दर्य के उस उन्मत-शक्ति के अवसर पर—जब कि तुमने एक ही झलक में सब कुछ छीन लिया था और मैंने हँसते-हँसते अपना सभी कुछ तुम पर वार दिया था—अपने को तुम पर समर्पित कर दिया था......

उस समय मेरा अपना रह ही क्या गया था कि उसे तुम्हें दूँ ? पर नहीं, भूल होगई······अब भी मेरे पास कुछ है–तुम्हारे विरह की वेदना, तुम्हारे पार्थक्य की उत्तप्त अनुभूति ! क्या तुम उसे लोगे, प्रिय·········उस दर्शन के बदले उसे स्वीकार करोगे ? बड़ा उपकार मानुँगा, प्यारे ! बड़ा ही !!

श्रद्धा
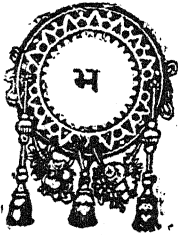
भगवन्! क्या मैं ऐसा अभागा हूँ, कि मेरे घर को कोई महात्मा पवित्र नहीं कर सकता? क्या मेरा अन्न इतना दूषित है, कि उसे कोई साधू-सन्यासी ग्रहण नहीं करना चाहता? हा! मेरा क्या होगा? मेरा क्या बनेगा? मेरे जीवन और मेरे गार्हस्थ्य-धर्म का कैसे उद्धार होगा?

लो, दिन ढल गया। एक बज चुका। स्वामी जी अब तक नहीं पधारे। क्या वह न आएँगे? कौन जाने, उनकी मौज की बात है। वह एक योगी और यती महात्मा हैं। उपदेश और व्याख्यान ही वह देना नहीं जानते, बल्कि वह एक कर्मनिष्ठ

और धर्मात्मा पुरुष हैं। उन्हें आचार-विचार का बहुत ध्यान रहता है। वह दान-कुदान का बड़ा ख़्याल रखते हैं। हर एक के यहाँ वह भिक्षा माँगने नहीं जाते। रिश्वत लेने वालों, सूद-ब्याज पर रुपया उठाने वालों, व्यवसाय में अशुद्ध व्यवहार करने वालों के यहाँ तो वह कभी जाते ही नहीं। वह भङ्गी, चमार और अन्य अस्पृश्य कहलाने वाली जातियों के यहाँ तो बड़े प्रेम से भोजन कर लेंगे, परन्तु पूर्वोक्त लोगों का अन्न नहीं ग्रहण करेंगे! उन्हें भूखा रहना पसन्द है, पर वकीलों, डाक्टरों देश और धर्म का अहित चाहने वालों और सत्य और झूठ में विवेक न करने वालों का द्वार खटखटाना पसन्द नहीं। वह अमीरों और बड़े आदमी कहलाने वालों से बहुत बचते हैं। वह प्रायः ग़रीबों, किसानों और अपनी गाढ़ी कमाई से पेट भरने वालों पर ही दया करते हैं। उनकी रूखी-सूखी रोटी ही उन्हें रुचिकर है। वह बड़े अच्छे महात्मा हैं। मुझ पर बड़ी कृपा रहती है। पर न जाने आज वह अब तक क्यों नहीं पधारे? बड़ी देर हो गई।

ए लो, बच्चा तो भूखा ही सो गया। उसे साधुओंके प्रति अभी से बहुत अनुराग है। वह बड़ी श्रद्धासे दौड़ दौड़कर स्वामीजी के लिए चीज़ें जुटा रहा था। देवी जी को तो मानो आज सारा दिन उपवास सा ही हो गया। उन्होंने अब तक मुँह में पानी भी नहीं डाला। वह प्रातः काल से रसोई के काम में लगी हुई हैं और अब भी स्वामी जी को गर्म गर्म फुलके खिलाने के

चाव में वह रसोई घर में डटी हुई हैं। कुछ ठिकाना है। यह समय हो गया। दिया जले बड़ी देर होगई। उफ़्फ़ोह! इतना समय होगया! कब तक प्रतीक्षा की जाय? कुछ हद है? देवियों की श्रद्धा का कुछ वारापार नहीं। उनका उत्साह अब तक भी तनिक कम नहीं हुआ। मैं घबरा गया, उकता गया, पर उन्हें जैसे कुछ परवाह नहीं। इन लोगों को अतिथि-सत्कार में बड़ी श्रद्धा है। सच पूछो तो इन्हीं देवियों की बदौलत ही कुछ हमारे धर्म-कर्म की रक्षा होती है और उसकी थोड़ी बहुत मर्यादा क़ायम है। यह जैसा और जो समझती हैं, उस पर दृढ़ रहती हैं। काश देवियों का जैसा शुद्ध और निष्कपट हृदय पुरुषों का भी होता, तो आर्य-जाति की आज यह अधोगति न होती। पुरुष तो जैसे एक सिरे से धर्म-भ्रष्ट और नास्तिक से हो गए हैं। इन्हें अपने झूठे तर्क और नकली विद्वत्ता के दम्भ में किसी में विश्वास ही नहीं रहा है।

प्राचीन आर्यों में अतिथि-पूजा का बड़ा मान था। अतिथि-सत्कार पञ्च महायज्ञों में से एक बड़ा और आवश्यक यज्ञ है। परन्तु कितने हैं जो अब इसमें श्रद्धा रखते हैं? पर हाँ, श्रद्धा का क्या पूछना? वह तो किसी में भी नहीं रही। सब एक प्रकार का ढकोसला समझा जाता है। यह क्यों? मनुष्य जैसा भी साहित्य देखता है उसका प्रभाव उसकी बुद्धि और आत्मा पर वैसा ही पड़ता है। हमारे सभी धर्म-ग्रन्थ आदि प्रायः संस्कृत में हैं। संस्कृत हम पढ़ते नहीं। संस्कृत ही नहीं, हम

अपनी मातृ–भाषा हिन्दी भी नहीं सीखते, नहीं पढ़ते। इस दशा में ऐसी दशा में हमारे धर्म कर्म में हमें जैसी श्रद्धा और भक्ति हो सकती है वह प्रत्यक्ष है। रहे हमारे साधू-महात्मा और पण्डित, पुरोहित उनमें जो सुयोग्य और धर्मात्मा होते हैं, उन्हें हमारी परवा ही क्या ? और जो ऐसे-वैसे होते हैं, वह हमारे श्रद्धास्पद ही कैसे हो सकते हैं ? हा ! बड़ी शोचनीय अवस्था है। हमारा उद्धार कैसे होगा ? मनुष्य का धर्म–कर्म ही उसके साथ जाता है। अपने कर्तव्य–कर्मों पर विश्वास और साधू–महात्माओं में श्रद्धा होनी ही चाहिए। 'हीरोवर्शिप' और वीर-पूजा सभी देश और सभी जातियों में होतो रहा और होती रहेगी। यह देश और जाति के उत्थान के लिए परमावश्यक है। इसमें नास्तिक बुद्धि चल नहीं सकतो। मनुष्य का कोई न कोई श्रद्धास्पद और भक्ति-भाजन होना ज़रूरी है। इसमें देश और जाति का लाभ तो जैसा होता है, वह होता ही है पर अपना आत्म–लाभ भी कम नहीं होता।

श्रद्धा बहुत बड़ी चीज़ है। हमारे हृदय में श्रद्धा और बलवती श्रद्धा होनी चाहिए। ईश्वर के नियम सत्य पर स्थिर हैं। इसमें जब तक उनके लिए श्रद्धा के भाव नहीं हैं, हम कदापि उनसे लाभ नहीं उठा सकते। हमारे चाहे कैसे ही और कितने ही ऊँचे उद्देश क्यों न हों, पर जब तक हमें उनके प्रति श्रद्धा और विश्वास नहीं हैं, हम कभी भी सफल मनोरथ नहीं हो सकते। हमें श्रद्धा की दृढ़ चट्टान पर खड़ा होना चाहिए।

बालू की भीत पर खड़े होने से कुछ न होगा। यह हमें आपत्ति की आँधी से डगमगा देगी, हिला देगी, हाँ, गिरा देगी। उन्नति कथन द्वारा नहीं, कर्मों द्वारा प्राप्त होती है। जिनका मन्तव्य और कर्त्तव्य एक नहीं, वह कभी उन्नति नहीं कर सकते। संसार में महा पुरुष वही बने हैं और वही बनेंगे, जिनके हृदय में अगाध विश्वास और प्रगाढ़ श्रद्धा रही है और रहेगी।

सफलता

अरी देख ! तेरी सारी उँगली जल गई और तुझे ख़बर ही नहीं । यह कैसी बावली है ? इसे जैसे अपने तन-बदन की कुछ सुधि ही नहीं ।

आह ! कैसी तल्लीनता है । तल्लीनता या उत्कृष्ट विस्मृति ! यह गोपिका कृष्ण-प्रेम में मतवाली है । यह यशोदा के घर अपना दीपक जलाने आयी थी । दीपक जलाने की अपेक्षा, इसने अपनी उँगली ही जला ली और फिर भी इसे पता नहीं कि क्या होगया । यह केवल एकटक अपने प्यारे पीतम को देखती रही ।

क्या हम में यह तन्मयता आ सकती है ? ऐसे भाग्य

कहाँ ? यह स्वर्गीय सुख किसी विरले पुण्यात्मा को ही मिल सकता है। हम ईश्वरोपासना करते हैं। हम अपने चित्त और समस्त मनोवृत्तियों को सब ओर से हटा कर ईश्वर-चिन्तन में लगाना चाहते हैं, परन्तु मन क़ाबू में नहीं आता। हम कोशिश करते हैं कि हमारा पद्मासन ठीक रहे, हमारा शरीर न हिले, हमारे कान कोई और आवाज़ न सुनें, हमारी आँखें इधर-उधर किसी को देखने की ओर न झुकें, हमारे शरीर में कहीं खुजली उठे, तो हमारे हाथ उधर न दौड़ें, हमें जहाई न आये, हमारा ध्यान न बटे, परन्तु ऐसा नहीं होता। क्यों नहीं होता ? हम में तन्मयता नहीं। हमारा मन असंयमी है। हम ईश्वर-आराधन में, भजन, में, चिन्तन में, अपनी मनोवृत्तियों को लगाना नहीं जानते, और न जानने का यत्न और अभ्यास ही करते हैं। मन, बचन और काया के सारे कर्म अपने प्रभु के आगे समर्पण करके हमें उसी प्रभु का हो जाना चाहिए—इस अत्यन्त महत्व पूर्ण ज्ञान का हमें परिचय नहीं। तल्लीनता किस वस्तु का नाम है, यह हम जानते ही नहीं। हम ने एकाग्र चित्त होकर कोई काम करना सीखा ही नहीं। हम करते कुछ हैं, सोचते कुछ हैं। हमारा शरीर कहीं है, और हमारा मन कहीं है। हम काबे में हैं और हमारा दिल अफग़ानिस्तान में घोड़े ख़रीद रहा है। हम सन्ध्या करने के लिए आँख बन्द किए बैठे हैं, हमारा मन कल पेश होने वाले मुक़द्मे की तैयारी में लगा हुआ है। हमारा हाथ गोमुखी के अन्दर होता

है, पर हमारा मन किसी और ही रूप का आनन्द लूट रहा है। हा! हमारे सामने सारी बातें, सारे विचार, इसी समय आते हैं। कैसी विचित्रता है? विचित्रता नहीं, कैसे दुख और लज्जा की बात है।

क्या हम इसी जप और स्मरण से भगवद्भजन का आनन्द लेना चाहते हैं? क्या ऐसे ही ध्यान और उपासना से हमें योगानन्द प्राप्त हो सकता है? कभी नहीं, एकान्त असम्भव! नितान्त दुर्लभ! हम में तन्मयता आनी चाहिए, एकाग्रता होनी चाहिए। ध्यान-अवस्था में हमारा कुछ ही हो जाय, हमारे शरीर पर साँप-बिच्छू रेंगें, पशु-पक्षी बैठें, दाद-खुजली कुछ ही उठे, हमें उसकी ख़बर न हो। जब तक ऐसी अवस्था नहीं होती, ज्ञान-ध्यान का कोई मज़ा नहीं, कोई आनन्द नहीं, कोई सार और मूल्य नहीं। गोमुखी में हाथ डाले, तुम अपना जीवन बिता दो, पद्मासन पर बैठे हुए युग-युगान्तर समाप्त कर दो, कुछ न होगा। यह व्यर्थ समय नष्ट करना और अपने को, तथा संसार को, धोखा देना है। हमारे जीवन में इस से कोई लाभकारी परिवर्तन नहीं आने का। हमारी ज़िन्दगी में मिठास और आनन्द केवल एकाग्रता और तल्लीनता से ही आ सकता है।

हम अपने जीवन में लौकिक और पारलौकिक अनेक काम करते हैं, परन्तु सफल-मनोरथ शायद ही होते हैं। क्यों? क्या हम यथेष्ट परिश्रम नहीं करते? क्या हम में काफ़ी योग्यता

नहीं होती ? क्या हमारे उद्देश प्राप्ति के लिए हमारे पास पर्याप्त साधनों की कमी होती है ? नहीं, यह कुछ नहीं होता ! हमारे पास सब कुछ है । पर सब कुछ हो भी, तो क्या ? जब तक हम एकाग्र चित्त होकर कोई काम नहीं कर सकते तो हमें, कभी और किसी तरह भी, कोई सफलता नहीं प्राप्त हो सकती । तन्मयता ही सफलता की कुञ्जी है । मन निस्सन्देह बड़ा बलवान और चञ्चल है, पर अभ्यास और वैराग्य से यह वशीभूत हो जाता है । नियम पूर्वक और निरन्तर काम करने से तल्लीनता में सहायता मिलती है, और तल्लीनता से ही ऐहिक तथा पारलौकिक-दोनों प्रकार के-कार्यों में सफलता प्राप्त होती है ।

कमाले इश्क़ है ऐ दाग़ महव हो जाना ।
मुझे खबर ही नहीं, नफ़ा क्या, ज़रर क्या है ॥

आत्मोत्सर्ग

नके विचार की क्या बात ? वह तो सदा से ही साधु-स्वभाव थीं। ....के न रहने पर वह आन्तरिक दुख के मारे पगली हो गई थीं। योग सा साध लिया था। वह गृहस्थ में रहती थीं पर उन्हें गृहस्थ की किसी वस्तु से ऐसी मोह-ममता नहीं थी, जैसी हम लोगों को होती है।"

"हाँ, यह तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है। हम सब अपनी आँखों से देखती ही थीं। एक बार यहाँ उनके भाई आए थे। उनके कोई लड़का-लड़की तो थी नहीं, उन्होंने अपनी सब जगह ज़मीन उन्हें देने को कहा, पर उन्होंने लेने से साफ़ इनकार कर दिया।

उनका कहना था कि पराए धन को लेकर धनी होने से निर्धन रहना अच्छा है। मनुष्य को अपने पुरुषार्थ से धन कमा कर धनवान बनना चाहिए। किसी की कृपा और अहसान से बड़ा बनना या गुज़र-बसर करना भले आदमियों का काम नहीं है।"

"इस प्रकार की बातें तो वह सदा ही करती रहतीं थीं। वह यहाँ लगभग १५-१६ वर्ष रहीं। गृहस्थ में भला-बुरा समय प्रायः सभी पर आता है और सभी एक दूसरे की सहायता से अपना काम चलाते हैं, परन्तु यह बात उनमें न थी। वे औरों की सहायता जैसे भी बन पड़े—भले ही कर दें, पर स्वयं चाहे कैसी ही भूखी-प्यासी रहें, किसी को ख़बर तक न होने दें।"

"हाँ, उन्हें अपनी मान-मर्यादा का बहुत ख़्याल था। २४-२५ वर्ष की थोड़ी अवस्था में ही वे विधवा हो गई थी, पर जिस सुन्दरता से उन्होंने अपनी भलमनसाहत निभाई, दूसरी स्त्री से होना कठिन है। उनका जीवन तो बिलकुल सती का ही जीवन था।"

"विधवाओं की सृष्टि ही दुख भोगने के लिए होती है। वे दुख सहती हैं, पर उसका कुछ प्रतिशोध कर नहीं सकतीं। दुख की दवा उनके हाथ में नहीं होती। रूढ़ि-धर्म ने उन्हें एकदम विवश कर दिया है। त्याग उनके लिए स्वाभाविक चीज़ हो जाती है। त्याग का ही त्याग उन्हें दुख रूप प्रतीत होने लगता है। दुख ही उनके लिए सुख माना गया है।"

(गहरी सांस लेकर) "हाँ, सो तो है ही। विधवाओं का

गुसैंय्याँ ही हर प्रकार से रूठ जाता है। माँ का घर तो विवाह होते ही पराया घर सा हो जाता है। फिर, विधवा होने पर तो कहीं भी ठिकाना नहीं रहता। ससुराल में देवर-जेठ, सास-ससुर जो भी होते हैं, सब सेवा कराने के लिए तो सदा तैयार रहते हैं, पर उसके दुख में तरस खाने वाले नहीं होते। वही घर होता है, वही आँगन; वही स्त्री वही पुरुष होते हैं पर उसके पति के सामने और; और पीछे और हो जाते हैं। सारा संसार ही जैसे एकदम पलट जाता है। ईश्वर स्त्रियों पर और चाहे जैसा दुख डाले, पर वैधव्य दुख से उन्हें बचाए रक्खे। इस दुख में कोई उसका साथी नहीं होता। हरएक की बातें सुनते सहते वह बिलकुल निर्जीव सी रहती है। परन्तु फिर भी लोग उसे दुख देने और सताने से बाज़ नहीं आते। उन्हें कम दुःख नहीं उठाने पड़े, पर वह बड़ी धैर्य्यवान् और सहन-शीला थीं। वह सदा हँस-हँस कर सब बातें टाल देती थीं और किसी को अप्रसन्न होने का अवसर नहीं देतीं थीं।"

"हाँ, उनमें सहन-शीलता तो जैसी थी, थी ही, पर सेवा और त्याग बड़ा अपूर्व था। जिजिया उन से बहुत प्रसन्न रहतीं थीं। उन्होंने उन्हें अपना मकान देना चाहा, पर उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया। इस पर वह कुछ अप्रसन्न सी भी हुईं। पर उन्होंने उनकी अप्रसन्नता की तनिक भी परवा न की।"

"हाँ, वे अपनी धुन की पक्की थीं। ......के भाई का विवाह तो तुमने देखा ही है। लड़की के बाबा हज़ार पाँच सौ जो

कुछ हो, दहेज़ देते थे, पर उन्होंने दहेज़ का नाम सुनते ही साफ़ कह दिया कि, मुझे लड़का बेंचना नहीं। तुम्हारी जो मर्ज़ी आए अपनी लड़की को देना-लेना। हमें तो लड़की और लड़की वाले अच्छे होने चाहिए।"

(बात काट कर) "दहेज़ ही की बात क्यों? विवाह में भी जो कुछ मिला-जुला था, वह सब उन्होंने अपनी········को दे दिया था।

"भाई! उनकी कौन-कौन सी बात कहोगे, उनकी तरह तो किसी का होना कठिन है। वे तो पूर्ण सती और साक्षात् तपेश्वरी देवी ही थीं। उस दिन जब उनकी··· ··सब चीज़ें लेजा रही थीं और भरा भराया घर इस प्रकार लुटा जा रहा था, तो हम सब से देखा न जाता था। उन्हें विवाह के पीछे—दो तीन दिन में ही—इस प्रकार ले जाना नहीं चाहिए था। कुछ दिन बाद यदि ऐसा होता, तो किसी को भी बुरा न लगता।"

"ख़ैर, यह तो अपनी-अपनी समझ और अपना-अपना भाव है, परन्तु उनके समान बहुत कम लोगों का दिल होगा। यह कोई साधारण बात नहीं थी। इतना बड़ा त्याग हर एक से नहीं हो सकता। और फिर ऐसे समय में जब बरसों से आस लगाते-लगाते यह दिन नसीब हुए हों।"

"हाँ, यह तो ठीक वैसा ही हुआ, जैसे कोई किसी के आगे थालीपरस कर रख दे और कोई ज़बरदस्त एकदम आकर उस

थाली को उठा ले जाय और वह बेचारा मुँह ताकता रह जाय। हा! कैसी दुनियाँ है। राँड-विधवा के हृदय को कोई नहीं देखता।"

× × ×

माँ! तुम आदर्श माता थीं। तुम्हारा जीवन आदर्श-जीवन था। ब्रह्ममुहूर्त में तुम्हारा उठना, सूर्य्य निकलते-निकलते स्नान-पूजन आदि से निवृत्त हो कर, दस ग्यारह बजे तक घर-गृहस्थी के कार्य में लगे रहना और दोपहर में मुहल्ले-पड़ोस की लड़कियों, स्त्रियों तथा छोटे-छोटे लड़कों को पढ़ाना कैसे नियमित रूप से होता था। बचपन में जिस प्रेम और चाव से तुम मुझे रामायण सुनातीं या महाभारत की कथा-कहानी कहतीं, वह मुझे अब तक याद है। तुम्हारे बाद, हा! तुम्हारे न रहने के बाद, फिर मुझे उस प्रेम का आनन्द न मिला, उस प्रकार प्रेम पूर्वक मुझे किसी ने कुछ न सुनाया। तुम तपस्विनी थीं। तुम वैराग्य की साकार विभूति थीं! तुम्हारा पवित्र जीवन तपोमय साधना का अनुष्ठान था। तुम्हारा मधुर प्यार बड़ा शीतल था। बच्चे तुम्हें देख कर प्रफुल्लित हो जाते थे। युवकों के हृदय में भक्ति-रस परिप्लावित हो उठता था, और वह तुम्हारी पुण्य साधना को देख कर विस्मित और विमुग्ध हो जाते थे। तुमने सन्यास नहीं लिया था, पर तुम वास्तविक सन्यासिनी थीं। तुम्हारे सामने एक आदर्श था। तुम उसके लिए जीती थीं, दुख उठाती थीं,

पर आह नहीं करतीं थीं। तुम मेरी माता थीं। मुझे तुम पर गर्व है। नहीं-नहीं, तुम जैसी भगवती माता पर किसे गर्व न होगा? तुम सब की माँ हो। सब तुम्हारे पुत्र हैं। लोग कहते हैं, विधवाओं का आदर नहीं है। हाँ-हाँ; ठीक कहते हैं। विधवाओं को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है और लोगों को उन्हें पहचानने की आँखें नहीं हैं। आदमी की क़द्र उसके न रहने के पश्चात् होती है। तुम जैसी दिव्य तपोमयी माताओं–विधवाओं–का आज भी, इस घोर पतन और दुर्दिन में भी, कौन आदर नहीं करता, कौन आदर करने पर विवश नहीं होता? तुम्हारी सहन-शीलता वन्दनीय है, तुम्हारा त्याग, तुम्हारा आत्मोत्सर्ग पूजनीय है। तुम्हारे श्री-चरणों में, तुम्हारी पावन स्मृति के पवित्र पादारविन्द में सादर, सप्रेम, सभक्ति वन्दे!
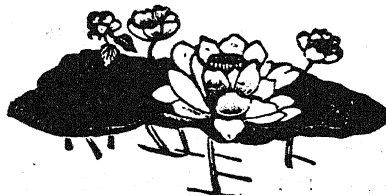
प्राण-शक्ति
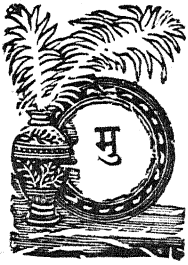
झे, अपनी मातृ भाषा में बोलने दो, नहीं तो अपनी जिह्वा काट कर फैंक दूँगा। मैं उस भाषा का निरादर नहीं कर सकता, जिसके द्वारा अपनी स्नेहमयी माता की प्यारी गोद में बैठकर मैंने अपनी जीवन की प्रथम आवश्यकताओं को प्रकट किया था।

जिन लोगों ने अपनी माता का दूध पिया है, जिन लोगों को अपनी माता की प्यारी-प्यारी लोरियाँ सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उनका अपनी माता और मातृ-भाषा का आदर-सम्मान चाहना स्वाभाविक ही है। यह बात किसी

विशेष देश या जाति पर निर्भर नहीं है। मेरा रङ्ग भूरा है, उसका सफ़ेद, तुम्हारा काला। इस रङ्ग-भेद से सुख-दुख, भूख-प्यास, के भावों में अन्तर नहीं होता। कोट-कमीज़, अचकन-शीरवानी, पायजामा-पतलून, धोती-कुर्ता, टोपी-साफ़ा, और हैट आदि पहनने से मनुष्य अपनी स्वाभाविकता नहीं त्याग सकता। मानवी स्वाभाविकता तो प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति, प्रत्येक धर्म और प्रत्येक प्रथा के मानने वाले मनुष्यों में एक सी ही होती है। प्रत्येक के हृदय में वही इच्छाएँ, वही लालसाएँ, वही भूख, वही प्यास, वही चिन्ता, वही शोक, वही प्रेम और वही आनन्दोल्लास की तरङ्गे प्रवाहित होती रहीं हैं, परन्तु हाँ, उसके भावों और भावनाओं में शिक्षा-दीक्षा तथा देश, काल और परिस्थिति द्वारा कुछ विशेष संस्कार पड़ जाते हैं और इसी लिए प्रत्येक जाति को अपनी मातृ-भाषा द्वारा ही शिक्षा मिलनी और लेनी चाहिए। इसका वैपरीत्य हमारे लिए एक दम अस्वाभाविक, अप्राकृतिक और हमारे भावों, हमारे विचारों, हमारे उद्देश और आदर्श के लिए नितान्त घातक है।

राष्ट्र-शिक्षा स्वराज्य प्राप्ति का सब से बड़ा साधन है, परन्तु यह तभी होता है जब वह शिक्षा आदि से लेकर अन्त तक हमारी मातृ भाषा में हो। जो व्यक्ति जितना अधिक विदेशी भाषा, विदेशी शिक्षा से सन्निकट होगा वह उतना ही अपनी मातृ-भाषा और राष्ट्रीयता से दूर होता जायगा। जब तक हमें अङ्गरेजी भाषा की ज़रूरत है, उस समय तक हमें अङ्गरेजी राज्य की भी

ज़रूरत है और तब तक हम विदेशी सभ्यता और उसके परिणाम स्वरूप मानसिक दासता, नैतिक तथा आर्थिक पराधीनता, आदि की भी ज़रूरत अनिवार्य्य रहेगी। हमें स्वराज्य प्राप्ति के लिए, स्वाधीन होने के लिए, प्रकृति माताके निकट से निकट जाने के लिए, स्वाभाविक और सात्विक जीवन बनाने के लिए, देशभक्त होने के लिए, अपने स्वदेश बन्धुओं और दीन, दुखी, ग़रीब भाइयों के प्रति सहानभूति और सद्भाव बनाए रखने के लिए, स्वदेशी वेश और भाव की रक्षा करने के लिए, अपने पूर्वजों के धर्म मान-मर्यादा रीति-व्यवहार आदि के प्रति सदैव आदर भाव बनाए रखने के लिए अपने बच्चों को मातृ भाषा में शिक्षा देनी चाहिए। हमारे प्राइमरी स्कूलों से लेकर यूनिवर्सिटियों तक में शिक्षा की माध्यम मातृ-भाषा होनी चाहिए।

उच्च शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा को बनाने में सब से बड़ी आपत्ति यह की जाती है कि देशी भाषाओं में आवश्यकतानुसार साहित्य नहीं है। पर वस्तुतः क्या इस कथन में कुछ तत्व है? नहीं, कुछ भी नहीं। यह केवल बहाना है। हाँ इसके विपरीत यह कहा जासकता है कि यदि यह भाषा माध्यम होती, तो इस समय इसका साहित्य कुछ और ही उन्नत दशा में होता। पर यद्यपि यह भाषाएँ अभी तक माध्यम नहीं बनी हैं लेकिन तो भी इन में उच्च तथा वर्तमान आवश्यकता के अनुसार साहित्य-भण्डार की पूर्ति की जा रही है। गत दो

तीन दशाब्दियों में तो इस ओर आशातीत प्रगति हुई है। हमें अपनी मातृ भाषा को सर्वोच्च स्थान देना चाहिए और उसके वास्ते सभी प्रकार के त्याग के लिए तैयार रहना चाहिए। रेल-तार कचहरी-दरबार हाट-बाज़ार घर-बाहर जहाँ भी हो, हमारी मातृ भाषा का ही व्यवहार रहे। हमें अपने पत्र-पत्रिकाओं, आवेदन-निवेदन, तमस्सुख-दस्तावेज, बही-खाता फैसला-तजवीज़ सभी कुछ मातृ-भाषा में करना और कराना चाहिए। हमारी जातीयता का जीवन, राष्ट्रीयता की प्राणशक्ति, स्वराज्य-प्रियता की दिव्य ज्योति यही हमारी मातृ भाषा है। उसी के द्वारा संसार में आते ही हम ने पहले पहल 'मां' कहना सीखा। संसार से विदा होते हुए भी हम अपनी मातृ भाषा में ही यह कह सकें, "प्रभो ! तेरी इच्छा पूर्ण हो.' यही हमारा ध्येय है।

प्रतिज्ञा
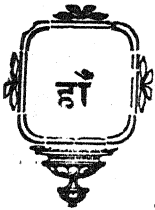
हाँ, मैं अनेक बार जन्म-मरण के दुख-सुख सहता हुआ इस देव दुर्लभ मनुष्य शरीर को प्राप्त हुआ हूँ। अब मैं इस सुअवसर को यों ही न जाने दूंगा। मैं इसका घर-घाट समझ गया हूँ। मैं इस घर को विध्वंस कर दूंगा और घर के सारे सामान को तोड़-फोड़ डालूँगा। न बाँस रहेगा, न बाँसुरी बजेगी। मैं अपनी तृष्णा को समूल नष्ट कर दूंगा और अपने चित्त को नितान्त संस्कार रहित बना दूंगा। मैंने इस संसार में बहुत दुख पाया है और उस पर आवागमन के चक्कर ने तो मुझे बेतरह पीस डाला है।

× × ×

मनुष्य जन्म बड़े पुण्य और सुकृत से मिलता है! पर कौन है, जो इस आवागमन के दुख से दुखी नहीं। इसे कोई नहीं चाहता, परन्तु यह पाप के प्रलोभनों की भाँति किसी प्रकार पीछा छोड़ना ही नहीं जानता। मनुष्य जप-तप, ध्यान-योग, दान-पुण्य, तीर्थ-स्नान, आदि क्यों करते हैं। केवल इसी लिए कि इस आवागम से जान छुटे, मुक्ति मिले। पर इसमें किसी को कब और कितनी सफलता मिलती है, यह बतलाना कठिन है। मनुष्य कुछ तो अपने स्वार्थ और बहुत कुछ अपनी मूर्खता से अपने आप फँसता और फिर पीछे छटपटाता है। ईश्वराज्ञा स्पष्ट है। उसके अनुकूल करो, बेड़ा पार है। वेद का पवित्र सन्देश आशा और विश्वास का सन्देश है। उसके अनुसार आचरण करो, कभी और कोई निराशा न होगी। मनुष्य जीवन आशा और सौभाग्य का जीवन है। संसार दुख और कष्ट भोगने तथा रोने धोने की जगह नहीं है। यह है रङ्ग-भूमि, कर्म-भूमि। यहाँ काम करो और मस्त रहो। यहाँ कर्म ही प्रधान है। यहाँ का उद्देश है, काम करो, काम करो। कर्म ही सब कुछ है। कर्म ही जीवन है, कर्म ही प्रकाश और सौन्दर्य्य है। और कर्म से ही नजात, 'सालवेशन' (Salvation), और मुक्ति मिलती है। यहाँ कर्म की ही प्रधानता और कर्म का ही पवित्र मान और आदर है। बिना कर्म किये कोई रह नहीं सकता, बच नहीं सकता, हाँ ज़िन्दा भी नहीं रह सकता। पर कर्म की गति है बड़ी विचित्र। कर्म से ही जीव फँसता और

कर्म से ही छुटता है। पुनर्जन्म का चक्र इसी कर्म की धुरी पर घूमता और खड़ा भी रहता है।

कर्म की महिमा वास्तव में अपार है। कोई क्या वर्णन करे, कहाँ तक करे। हाँ कर्म कर्म में अन्तर है, भेद है। यही कर्म्म बन्धन का हेतु है, और यही कर्म मोक्ष-दाता है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है; सोचने और समझने की बात है। इसे सोचना और समझना मनुष्य जीवन की पहेली को सुलझाना है। अच्छा सुनो, एक आदमी काम करता है, उसके फल की इच्छा करता है; उसके फल पाने के लिए वह अपने वास्ते बन्धन तैयार कर लेता है। तुम बन्धन में फँसना नहीं चाहते, तो फल की इच्छा ही न करो। कर्म का फल, सर्प के दाँत की तरह है, दाँतों को तोड़ देने पर सर्प का विष घातक नहीं रहता। इसी प्रकार कर्म की सकामता नष्ट करने पर वह बन्धन का हेतु नहीं होता। कर्म चाहे जितना करो, खूब करो, घर में हो, बाहर हो, कहीं भी हो, किसी संस्था में हो, किसी आश्रम में हो, कैसी ही परिस्थिति और किसी भी अवस्था में हो, अपना कर्त्तव्य पालन करते रहो। इस विचार से नहीं कि तुम्हें धन मिलेगा, यश मिलेगा, या मान प्राप्त होगा। हाँ, मिल जाय तो परवा नहीं, न मिले तो उसकी चिन्ता नहीं, खोज नहीं। और लो, अगर तुम पर गालियों की बौछार ही होने लगे, कोई ख़ामख़ाह कोसना ही शुरू कर दे या तुम्हारे विरुद्ध आन्दोलन खड़ा करे और तरह तरह के दोषारोपण करे, और इलज़ाम

लगाए, तो भी क्या हर्ज है ? तुमने अपना काम कर दिया; और लोग अपना काम करते हैं, उन्हें करने दो। वह अपनी आदत नहीं छोड़ते, तो तुम्हें ही अपना स्वभाव क्यों छोड़ना चाहिए। तुम्हें अपने काम का कोई पुरस्कार, उपहार, धन्यवाद तो लेना ही नहीं; फिर दूसरे की गालियों और आन्दोलन के लिए व्यर्थ सबूत और सफ़ाई जुटाने की क्या ज़रूरत ? क्या चिन्ता ? इस प्रकार का तुम्हारा यह निष्काम कर्म तुम्हें बन्धन में न डालेगा, वरन् तुम्हारे लिए कल्याण का मार्ग प्रशस्त करेगा और तुम्हें मुक्ति दिलायगा।

कर्म के इस रहस्य को न जान कर लोग आनन्द के स्थान में दुःख ही प्राप्त करते हैं, और जन्म-मरण के चक्करसे छुटकारा नहीं पाते। भोग करो, पर लोभ और मोह से नहीं। त्याग करो, काम करो परन्तु उसके फलों से बेपरवाह हो कर रहो। फिर देखो कैसा अपूर्व आनन्द रहता है, और स्वतन्त्रता तथा स्वाधीनता की कैसी अनोखी कैफ़ियत तुम्हें मालूम होती है। लोलुपता और फलासक्ति से वासना बनती है। वासना बनी और तुम मिटे, और फिर वही पुनर्जन्म का दुखदायी चक्कर तुम्हारे सिर पर सवार होगया। मनुष्य को यहीं देखना और सावधान रहना चाहिए। जीवन और मरण की विकट समस्या का यहीं अन्त और आदि यहीं इति और अथ होता है। देश और जाति तथा धर्म और समाज की प्रत्येक सकाम और और निष्काम सेवा में यही भाव छिपा हुआ है। प्रेय और

श्रेय मार्ग का यही भेद है। क्या मनुष्य जीवन के इस रहस्य को समझ कर तुम अपना जन्म सफल करना चाहते हो? यदि हाँ, तो प्रतिज्ञा करो और दृढ़ प्रतिज्ञा करो; काम कठिन अवश्य है, पर है भी मनुष्यों के ही करने का। मनुष्य ही प्रणवीर होते और हो सकते हैं। व्रत, प्रण, और प्रतिज्ञा एक शुभ अनुष्ठान है और इसे कोई वीर, धर्मात्मा और योगी-यती ही करता और पूरा करता है।

आत्मोन्नति

दूर रहो, अलग रहो, इधर क्यों चले आते हो ?

सड़क की पटरी पर एक पचास साठ वर्ष का बुड्ढा आदमी बैठा हुआ है। कोढ़ से उसके तमाम अङ्ग गलित हो रहे हैं। मांस सड़ रहा है। मक्खियाँ उसके चारों ओर भिनभिना रही हैं। वह उन्हें अपने लूले और सड़े-गले हाथों से उड़ाने की बहुत कोशिश कर रहा है पर वह उस से और भी लिपटती ही जातीं हैं। मक्खियाँ जब बहुत सतातीं और काटतीं हैं तो वह बड़े दुखी और कातर हृदय से

चिल्ला उठता और आह करके रह जाता है! उसके तन पर काफ़ी कपड़े नहीं हैं। वह एक फटा पुराना दुपट्टा ओढ़े हुए है। जब मक्खियाँ उसके दुपट्टे के सूराखों में से घुसकर उसे बेहद दुख देतीं, तो वह एक जगह से उठकर दूसरी जगह बैठ जाता। परन्तु जहाँ भी जाता, मक्खियां उसका पीछा न छोड़तीं और लोग उसे बुरी तरह से दुरदुराते और अपने पास से भगा देते।

हाय! वह कहाँ जाय! क्या करे? कोई उस ग़रीब के साथ सहानुभूति करने वाला नहीं। सहानुभूति कैसी? उस से प्रायः सब घृणा ही करते हैं। 'सहानुभूति' क्या शब्द है, वह उसने कभी सुना ही नहीं। हां घृणा, तिरस्कार, हटो, दूर रहो, इत्यादि शब्द तथा उनके प्रयोगों के उदाहरण उसने खूब सुने हैं। जो ज़रा दयावान होकर उसे दो चार पैसे देते या कुछ भोजन करा देते अथवा कोई वस्त्र ही दिला देने की कृपा करते हैं उनके हृदय से भी तो उसके लिए घृणा के भाव नहीं हटते।

क्या वह यथार्थ में घृणास्पद ही है? क्या हमारे हृदय में उसके लिए घृणा के भाव रहने ही चाहिएं? नहीं, कदापि नहीं। घृणित वह नहीं है, जिसके साथ घृणा की जाती है बल्कि वह है जो घृणा करता है। कारण? वह घृणा को अपने हृदय में स्थान देता है। घृणा से वशीभूत होकर औरों के साथ अमानुषिक व्यवहार करता है और संसार में दुख क्लेश

और अशान्ति फैलाता है तथा दूसरों में उसका प्रचार करता है। कोढ़ी के हृदय मन्दिर में उसी दिव्य ज्योति का प्रकाश है, जिस से यह सारा संसार प्रकाशमान हो रहा है और जो हमारे और तुम्हारे तथा बड़े बड़े ऋषि-मुनियों के अन्तःकरण में प्रकाश करती है। चेतन-आत्मा तो ऊँच-नीच, स्पर्श्य-अस्पर्श्य, कोढ़ी अपाहज, स्वस्थ-अस्वस्थ सभी में वर्तमान है।

क्या हमें इस घृणा को प्रेमाग्नि में भस्म न कर देना चाहिए? मनुष्य का हृदय ईश्वर का पवित्र मन्दिर है। इस में घृणा दम्भ, और राग द्वेष का क्या काम? वहाँ तो प्रेम, शुद्ध प्रेम की धारा बहनी चाहिए। प्रेम बड़ी चीज़ है। प्रेम ही आत्मोन्नति की कसोटी है और प्रेम से ही आत्मोन्नति होती है। जो मनुष्य प्रेम करना जानता है और अपने तन-मन-धन को प्रेम में अर्पण किए हुए रहता है, उसे 'तू' और 'मैं' के पार्थक्य का ज्ञान नहीं रहता। वह एकदम अपने को भूला रहता है और संसार में उसके लिए सर्वत्र 'तू' ही 'तू' है, 'मैं' नहीं; तथा जहाँ साधारण लोग घृणा और द्वेष के कारण स्वयं दुखी होते और दूसरों को दुखी करते हैं, वहाँ वह अपने प्रेम-भाव से स्वयं सुखी रहता और साथ ही औरों को भी सुखी बनाता है। हां यह वही अवस्था है, जब मनुष्य सारे संसार की आत्मा में अपनी ही आत्मा का अनुभव करता है। हा! उस मनुष्य की दशा कितनी शोचनीय और दयनीय है, जिस के चित्त में प्रेम का अभाव और जिसके हृदय में घृणा

का स्थान है। हमें चाहिए कि प्रेम की मनोहरता, मधुरता और कोमलता आदि सद्गुणों का अनुभव करें और अपने हृदय से स्वार्थ का मैल धोकर संसार को प्रेम मय बनाने के लिए यत्नवान हों। घृणा मानव चरित्र के लिए घुन है। यह जिस में लग गया, उसे खाकर ही छोड़ता है। विरोध और युद्ध धर्म के अङ्ग बन सकते हैं, परन्तु घृणा और द्वेष नहीं। यह सांसारिक तथा आत्मिक उन्नति के लिए एकदम त्याज्य हैं आत्मोन्नति करना चाहते हो, तो सब से प्रेम करो, सब से प्रेम पूर्वक मिलो, और सब में उसी प्रभु की दिव्य ज्योति का अनुभव करो। घृणा का विचार भी अपने हृदय में न आने दो। यह विचार आया और तुम्हें एकदम आत्मोन्नति के मार्ग से हटाकर दूर—बहुत दूर पतन के बीभत्स गह्वर में पतित कर देगा।

नास्तिकता

(१)

श्री ·········· अभी अपने नित्य-कर्म से निवृत्त होकर अपनी बाहर की बैठक में स्वाध्याय कर रहे हैं। आप बड़े विद्वान और विचार-शील हैं। धर्म-कर्म में आपकी बड़ी निष्ठा है। पूजा-पाठ, ध्यान-योग में ही आपका अधिक समय व्यतीत होता है। सन्ध्या-अग्निहोत्र आप का कभी नहीं छूटता। यात्रा में भी आपके साथ हवन-कुण्ड और समिधा बँधी रहती है। समय-कुसमय कैसा ही हो जाय, पर आप नित्य-कर्म किए बिना भोजन नहीं करते। समाज में आप आदर्श स्वरूप माने जाते हैं। नगर में किसी भी ········ परिवार में

कोई संस्कार हो आपको सब से पहले स्मरण किया जाता है। बाहर के उत्सवों में भी सम्मिलत होने के लिए आपको निमन्त्रण अवश्य आता है, पर आप वृद्धावस्था होने के कारण बहुत कम जाते हैं। हाँ जहाँ जाते हैं वहाँ बड़े समारोह के साथ आपका स्वागत होता है। उपदेश और व्याख्यान तो आपका बड़ा सुन्दर और भावपूर्ण होता है, परन्तु आप के कथा कहने का ढंग बहुत ही निराला और आकर्षक है। सुधार सम्बन्धी प्रस्ताओं पर तो आप इतना अच्छा बोलते हैं कि आपका समर्थन किया हुआ प्रस्ताव गिर ही नहीं सकता। जनता की आपके नाम पर इतनी आस्था है कि वह किसी भी सभा की सूचना में आपका नाम देखते ही दौड़ पड़ती है। शास्त्रार्थ के अवसरों पर बाहर चाहे आपको कोई कम बुलाए, परन्तु नगर में तो बिला आपके काम ही नहीं चलता। धर्म-व्यवस्था में आपकी सम्मति बड़ी मूल्यवान समझी जाती है। वह देखिए, कोई सज्जन आपके पास आरहे हैं।

"............नमस्ते। कहिए क्या हो रहा है?"

"अभी नित्य-कर्म से निवृत्त हुआ हूँ। आइए, बैठिए,......"

"............से वह आगए हैं।......दल में सम्मिलित होने की बात उठेगी ही। मैं ने सोचा, चलो आप से भी इस विषय में विचार करते चलें।"

"बहुत अच्छा किया पर इस विषय में तो अब विशेष विचार करने की बात ही नहीं रही। हम ही आप इस में

शामिल न होंगे, तो होगा कौन ?"

"हाँ, बात तो यही है, परन्तु फिर भी यह काम इतनी जल्दबाज़ी का नहीं है, जितना साधारणतया समझा जाता है।"

"आपके पुत्र की क्या अवस्था है ?"

"उसकी उम्र १५/१६ वर्ष की होगी। अगले वर्ष मैट्रिक की परीक्षा देगा"।

"क्या वह घर-गृहस्थी का काम चला सकेगा ?"

"चला सके या न चला सके, इसकी मुझे चिन्ता नहीं। हर एक अपना-अपना प्रारब्ध लेकर आता और खाता-पीता है। हमें अपने व्यक्तिगत कर्तव्य से कभी विमुख न होना चाहिए। परमात्मा सब का रक्षक है। मैं ही खुद एक पितृ-हीन निर्धन बालक था पर अब ईश्वर की कृपा से......... ।"

"हाँ, संसार का कोई काम कभी रुकता नहीं है। हमें संसार के पीछे न पड़कर अपना कर्तव्य-कर्म देखना चाहिए, और ईश्वर पर अटल विश्वास रखना चाहिए। वह जो कुछ भी करता है, हमारे लिए अच्छा ही करता है। इस समय हिन्दुओं पर चाहे कैसा ही घोर संकट क्यों न हो पर इससे भी उनका विशेष उपकार ही होने वाला है।"

निस्सन्देह! इन आपदाओं से हिन्दू-जाति में नवीन स्फूर्ति, नवीन जीवन का सञ्चार होगा।.........! मैं तो इसे एक आसमानी बरकत समझता हूँ। पर हाँ, ईश्वर हमें सुबुद्धि

और बल प्रदान करें और हम इस अवसर से यथेष्ट लाभ उठावें। अच्छा, तो अब आज्ञा दीजिए। मैं.........से मिलने जाता हूँ। आप भी आएँगे न?

'हाँ ज़रुर'।

(२)

"बेटी!'

"क्या दादा जी?"

"देख, मैं ऊपर कमरे में जाता हूँ। मुझे कोई बुलाने आए, तो कह देना वह कहीं बाहर गए हुए हैं।"

नहीं दादा जी! मैं झूठ नहीं बोलूँगी। उस दिन आपने ही मुझे झूंठ बोलने के लिए मना किया था।"

"नहीं बेटी, तू झूंठ कभी न बोलना।"—पास के कमरे में से किसी ने कहा।

"मैं कभी न बोलूँगी, दादी जी!"

[उन से] "तुम ऊपर क्यों इस प्रकार बैठना चाहते हो?"

"यों ही, कुछ ख़ास ज़रुरत है।"

"तो जाओ, बैठो, कोई बुलाने आएगा तो कह दिया जायगा कि वह आज नहीं मिल सकते। यों बच्चों को झूंठ बोलना सिखाना अच्छा नही।"

"तुम तो कभी-कभी व्यर्थ उलझ पड़ती हो।"

इसमें उलझने-सुलझने की बात ही क्या है? तुम आज क्यों ऐसे सिटपिटाए हुए से हो? कोई वारन्ट या सम्मन तो नहीं है?"

"फिर वही हँसी की बात। आदमी को समय-कुसमय देखकर बात करनी चाहिए।"

"अच्छा तो फिर आज इस प्रकार क्यों घबराए हुए हो?"

(धीरे से)........आए हुए है। वह यहाँ .... दल में भरती करेंगे! मेरी अवस्था ५५ वर्ष से ऊपर है। मुझे घर की कोई फ़िक्र नहीं है। मरने से भी मैं इतना नहीं डरता। परन्तु मुझे यह चिन्ता है कि मेरो पेंशिन अभी हुई है। सरकार को ज़रा भी कहीं मेरे........में सम्मिलित होने की ख़बर हुई, तो यह पेंशिन अभी एकदम बन्द हो जाएगी। सत्याग्रह में तो जब मरना होगा; तब होगा, परन्तु पेंशिन बन्द हो जाने से तो अभी वे-मौत भूखों मर जाऊँगा। मैं इस मामले में ईश्वर से भी अधिक सरकार से डरता हूँ—पेंशिन से डरता हूँ। मैं अन्त समय में रोटियों के लिए किसी का मुँह ताकना नहीं चाहता।"

"यदि केवल यह बात है, तो तुम मेरा नाम लिखा दो। मुझे तो पेंशिन-वेंशिन किसी का भी भय नहीं है। क्यों यह ठीक होगा न?

...........इसका उत्तर अभी दे भी न पाए थे कि बाहर से किसी ने उन्हें पुकारा। उन्होंने सुनी-अनसुनी बहुत की, परन्तु वह बच न सके और बाहर जाना ही पड़ा।

(३)

"ओहो! आप हैं! कहिए कैसे पधारे?

"बस अब आप पधारिए। मैं आपको लेने आया हूँ।

उन्होंने आपको बहुत जल्द बुलाया है।"

'क्यों ?'

"यह वहीं सब आपको मालूम हो जायगा। मैं यहां केवल आपको बधाई दे सकता हूँ।"

'कैसी बधाई ?'

'बधाई कैसी होती है, देश-सेवा का अवसर प्राप्त होना क्या कम खुशी की बात है ! हम सब लोगों ने आपको दलपति बनाने का प्रस्ताव किया है।"

'तो क्या अपने आपना प्रतिज्ञा-पत्र भर दिया ?

"मैं ने ! मैंने तो बहुत पहले ही भर कर भेज दिया था। मैं शुभ कार्य में विलम्ब नहीं करता ! धर्म-वेदी पर बलिदान हो जाना तो मैं अपना अहोभाग्य समझता हूँ। मेरे घर में देवी जी ने भी प्रतिज्ञा पत्र भर दिया है। उन्हें बड़ा उत्साह है। कहिए अब आप क्या सोच रहे हैं ? जल्दी चलिए।"

"मैं सोच क्या रहा हूँ। मैंने तो सचमुच अभी तक कुछ सोचा ही नहीं है। आप चलिए। मैं भी थोड़ी देर में पहुँचता हूँ।

जल्द आइएगा। अब सोचने-विचारने में अधिक समय लगाने का अवसर नहीं है। हमारा प्रस्ताव सर्व सम्मति से स्वीकृत होगा।

(४)

'यह मंत्री जी क्यों आए थे' ?

'उसी के लिए'

'तुमने क्या कह दिया ?'

कह क्या देता ? अभी यों ही टाल दिया है ।"

'इस में टालने की क्या ज़रूरत थी । जैसा भी तुम्हारा निश्चय होता, साफ-साफ कह देते । कोई ज़बरदस्ती नहीं थी । यह लगी-लिपटी बातें अच्छी नहीं होतीं । इस से अन्ततः अप्रतिष्ठा ही होती है । कहो, अब क्या निश्चय किया ?

'वही'

'वही क्या?'

यही कि मैं अपनी पेंशिन अभी नहीं छोड़ सकता । सरकार से वैर नहीं कर सकता ।"

"तो क्या यह ज़िल्लत सहोगे ? धर्म का अपमान सहन करोगे ?"

'नहीं'

'तो फिर इसका प्रतिकार तुम ने क्या सोचा है ?'

'अभी कुछ नहीं ।'

"तो फिर अभी सब के साथ ही इस में सम्मिलित क्यों नहीं हो जाते ? यह तो बड़ा सुन्दर अवसर है ।"

'पेंशिन का लोभ नहीं छोड़ता ।'

'पेंशिन नहीं बन्द होगी ।'

'क्यों ?'

'मुझे विश्वास है । परमात्मा शुभ कार्य में सदा सहायक होते हैं ।'

यह तो सच है, पर मुझे भ्रान्ति है। ईश्वर पर इतना दृढ़ निश्चय नहीं होता, विश्वास नहीं जमता !

'तो क्या तुम नास्तिक हो ?'

'नहीं'

'तो फिर नास्तिक और कैसे होते हैं ? यही तो नास्तिकता है।'

आह्वान

"अरे! लोग कहते है, ईश्वर दीन-दुखिया की पुकार सुनता है। पर मैं पूछता हूँ कहाँ है वह ईश्वर? एक दुखिया हो, दो दुखिया हों, तीन दुखिया हों, तो कहा जाय कि इनकी पुकार ईश्वर तक नहीं पहुँचती। परन्तु यहाँ तो सारा देश का देश बिलबिला रहा है, व्याकुल हो रहा है और ईश्वर का पता नहीं।"

× × ×

वह कौन था? क्या था? वह राजा था, सिपाही था, दूत था, जनरल था। वह त्यागी और गृहस्थी था। उस में राग और

वैराग्य दोनों अपूर्व थे। वह लड़ता और लड़ाता था। वह नीतिज्ञ, तत्ववेत्ता, और शास्त्रों का ज्ञाता था। वह बाण विद्या में निपुण, और मल्लयुद्ध में कुशल था। वह धर्म-उपदेष्टा था, महाभारत का नायक था। वह अनाथों का नाथ, अबलाओं का बल और देवियों के मान का रक्षक था। वह ग्वाल था, गोपाल था, और ग़रीबों का साथी और सखा था। वह प्रियतम, प्रेम की मूर्ति था। वह ज्ञानी था, कर्मयोगी और योगीश्वर था। वह सब का सेवक था और सब उसे अपना स्वामी और सर्वस्व समझते थे। हा! कृष्ण क्या था, क्या न था? यह कौन बता सकता है?

वह एक ही समय में शत्रु और मित्र था? अग्नि और जल था, आकाश और पाताल था पूरब और पश्चिम था। लोग उसे अपनी अपनी भावनाओं के अनुसार देखते और समझते थे। अहा कैसा महान् अस्तित्व! कैसा अपूर्व पुरुष!! हम उसे प्यार करते हैं, उसका आदर करते हैं। उसके चरणों में अपना मस्तक टेकते हैं, और इसके लिए हम फूले अङ्ग नहीं समाते। वह हमारा है, हमारा रहेगा। हम उसे छोड़ नहीं सकते; नहीं, हम से कोई उसको छुड़ा भी नहीं सकता। हम संसार के साम्राज्य को त्याग सकते हैं, पर उसे नहीं। वह हमारा हृदय सम्राट् है। उसका पवित्र नाम हमारे लिए संजीवनी है। हम उसके नाम पर जीते और मरते हैं। उसका जीवन प्रकाश और दिव्य प्रकाश का विस्तार है। हमें उस में ऐहिक और

पारलौकिक ज्ञान, शक्ति, सौन्दर्य और आनन्द प्राप्त होता है। हमारे हृदय में उसके लिए अगाध प्रेम और अटल भक्ति है।

क्या वह ईश्वर है, या ईश्वर का कोई अवतार है? लोग कहते हैं जब कभी उसकी दिव्य कला किसी अंश या पूर्ण रूप से, किसी केन्द्र द्वारा प्रकट हो जाती है तो ईश्वर का अवतार होता है। होता हो या न होता हो; मैं उनके इन भावों की अवहेलना नहीं करता। पर हाँ मैं तो कृष्ण को मनुष्य ही मानता हूँ और मनुष्य मानकर ही हृदय से आराधना करता हूँ— उनके श्री चरणों में बड़ी भक्ति और श्रद्धा के साथ पुष्पाञ्जलि चढ़ाता हूँ।

कृष्ण मनुष्य था। कैसा मनुष्य? जिस पर प्रकृति माता को गर्व था। देश और जाति को गर्व था। था? नहीं, अब भी है, और सदा रहेगा। वह गर्व कभी नष्ट नहीं हो सकता—नहीं किया जा सकता। वह अमिट है। कृष्ण अपने समय में प्रकृति का सर्वोच्च नमूना था। वह पूर्ण और अद्वितीय मनुष्य था। अन्य मनुष्यों से बहुत आगे—प्रत्येक शक्ति में, चाहे वह शक्ति शारीरिक हो, आत्मिक हो, या मानसिक। वह अन्धकार को दूर करने, आततायियों तथा अत्याचारियों को दण्ड देने, निर्बलों और अन्याय-पीड़ितों की रक्षा करने तथा धर्म को पुनर्जीवित करने के लिए संसार में आया था। और फिर आएगा। कब? जब हम उसे बुलाएंगे, बुलाने और स्वागत करने के लिए तैयार होंगे!

प्रभो! आओ, आओ, हम इस समय तुम्हें बहुत दीन होकर पुकारते हैं। तुम तो दीनों की बहुत सुनते थे। सुनते क्या थे, तुम दीनों के लिए थे ही। क्या हमारी न सुनोगे! देखो, देखो। पारस्परिक ईर्ष्या द्वेष ने हमारा सत्यानाश कर दिया है। हम कौड़ी के तीन हो रहे हैं। हमारी बुद्धि नष्ट-भ्रष्ट हो गई। हम में धर्म-विवेक और सत्य-ज्ञान नहीं रहा है। नास्तिकता दिनों दिन बढ़ती जा रही है। धर्म-कर्म में कोई आस्था और निष्ठा नहीं रही है। गौ-ब्राह्मण और ईश्वर भक्तों का निरादर होता है, और कोई नहीं सुनता। भगवे वस्त्रों की प्रतिष्ठा उठ गई है और साधू-महात्माओं का मज़ाक होता रहता है। देश में एकदम हाहाकार मचा हुआ है। अन्न-वस्त्र तक के लाले पड़गए हैं। देवियों की दशा शोचनीय है। विधवाओं का कष्ट असह्य है। वर्ण-व्यवस्था अस्त-व्यस्त है। आश्रम धर्म की कोई मर्यादा नहीं। समाज में अनेक जातियाँ, उप-जातियाँ उत्पन्न हो गई हैं। नीच-ऊँच का भाव आए दिन बढ़ता जा रहा है। प्रेम और सहानुभूति का स्थान घृणा और निर्दयता ने ले लिया है। हिन्दू और अहिन्दुओं के झगड़े साधारण और नित्य की घटना हो गई हैं। धर्म के नाम पर अधर्म हो रहा है। क्या इस समय और ऐसे समय में भी तुम यहाँ अपने पधारने की ज़रूरत नहीं समझते?

दीनानाथ! आओ, आओ। अब विलम्ब न करो। हाय, हाय! हमारी यह दशा है और तुम देखते तक नहीं, सुनते

तक नहीं। भगवन ! इस समय संसार में आग लगी हुई है और तुम्हारे सिवा, हाँ तुम्हारे सिवा कोई उसको शान्त करने वाला नहीं है। अशान्ति की आग साधारण आग नहीं होती। भारतवर्ष के बाहर भी कम शोचनीय अवस्था नहीं है। अफ्रीका में वर्ण-भेद प्रबल है। श्वेताङ्ग, काली जातियों को तबाह करने, बरबाद करने, संसार से मिटाने के लिए, तुले हुए हैं। श्रम जीवियों और पूँजी पतियों में गहरी अनबन है। पड़ोसी-पड़ोसी में नहीं बनती। पिता-पुत्र स्त्री-पुरुष, आदि ये यथोचित प्रेम और सद्भाव नहीं। अमरीका में ईसाई, पादरियों और विकासवादियों में बेतरह ठनी हुई है। लोगों को पुराने धर्म और पुरानी सभ्यता से शान्ति नहीं मिलती। कहाँ तक कहा जाय चारों ओर कलह, दुख और अशान्ति के काले बादल छाए हुए हैं। करोड़ों मनुष्य दुखों से बिलबिला कर ईश्वर को पुकारते हैं। उस से प्रार्थना करते हैं, परन्तु दुख कम नहीं होते। मुसीबत नहीं टलती। और यही कारण है, नास्तिकता के भावों के बढ़ने का—धर्म से आस्था उठ जाने का। प्रभो ! अब विलम्ब न लगाओ। आ जाओ ! आ जाओ !! दीन हृदय तुम्हे पुकार रहा है, तुम्हे आह्वान कर रहा है, तुम्हारे स्वागत के लिए तैयार है। क्या इस आह्वान की ध्वनि तुम सुनोगे ? क्या वे दीन-हृदय जो सदा तुम्हारे सुन्दर एवं पवित्र नाम के सहारे जीते हैं तुम्हारी प्रतीक्षा करें ?

कर्तव्य

"दे" ख ! तू रोना नहीं बन्द करता। अब मैं तुझे उस लाल साफ़े वाले को बुलाकर पकड़वाए देती हूँ। तू ने उस दिन चौधरी की दुर्गति देख ली है।"

बालक की उम्र पाँच छः वर्ष की थी। वह अपनी माता के मुँह से ये बातें सुन, भयभीत होकर चुप होगया। लड़कों का रोना, मचलना तथा हठ करना आदि स्वाभाविक ही हैं, पर वह लाल साफ़े का नाम सुनते ही क्यों चुप हो गया ? क्या उसने कोई चोरी की थी या कहीं डाका डाला था। नहीं, उसने ऐसा कोई भी अपराध नहीं किया था।

उसने चौधरी की दुर्गति अपनी आखों देखी थी। पुलीस का सिपाही चौधरी को उसकी चौपाल से ज़बरदस्ती मारता-घसीटता हुआ ले गया था। बच्चा इस से डर गया था। वह लाल साफ़े वाले को एक भयानक जन्तु समझने लगा था। अब जब उसकी माता ने उसका स्मरण दिलाया तो वही चित्र उसकी आँखों के सामने फिरने लगा, और वह भयभीत होकर सन्न रह गया।

हाय! भय भी कितनी बुरी चीज़ है। यह सब कुछ कर और करा डालता है। निर्दोष बालक का दिल इसने दहला दिया। यह कहना न होगा कि मूर्खा माता ने उस समय अपने अबोध बालक के साथ कितना और कैसा घोर अन्याय किया है? बच्चे के कोमल हृदय में यह भय का बीज वपन हो कर अब उसे समस्त आयु के लिए कायर और डरपोक बना छोड़ेगा। वह कोई कार्य कभी भी, कहीं भी, किसी भी क्षेत्र में—चाहे वह धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक कैसा ही हो—पूर्ण स्वतन्त्रता और निर्भीकता के साथ करने में सफल न होगा। उसके हृदय और मस्तिष्क पर बात-बात में पिता, ईश्वर, धर्म, समाज आदि का भयप्रद संस्कार डाला जा चुका है। पर यह तो हुई एक बच्चे की बात। हम अपनी ही ओर क्यों न देखें? हम में ऐसों की कमी नहीं है, जो बड़े-बूढ़े और काफ़ी सयाने है, अच्छे विद्वान और पण्डित हैं और अपने को बहुत होशियार और अक़लमन्द समझते हैं, पर उनका हाल

उस बच्चे से कम बुरा नहीं है। क्यों? इस लिए कि वह भी कायर और डरपोक हैं। उनकी आत्मा भी भय के कलुषित संस्कारों से रहित नहीं हैं। सयाने होते हुए भी अबोध हैं और अपने यथेष्ट कर्तव्याकर्तव्य को नहीं जानते। उन्हें साहित्य, धर्म, और अन्य विषयों का अच्छा ज्ञान है, पर नागरिकता क्या है, यह वह बिलकुल नहीं समझते। उन्हें अपने स्वत्व और अधिकारों तथा शक्ति का पता नहीं। उनके ऊपर देश और समाज का शासन-चक्र चलता है पर वे इसके सम्बन्ध में बिलकुल अन्धकार में हैं। वे देश और समाज में रहते हैं, पर उन्हें यह ज्ञान नहीं कि हमारा उन से क्या, कैसा और कितना सम्बन्ध है और होना चाहिये? हम उनके लिए और वे हमारे लिए किस प्रकार और किस हद तक अधिक से अधिक उपयोगी और हितकर हो सकते हैं।

शिक्षा और स्वास्थ का क्या विधान है? हमें उसके लिए क्या करना चाहिए? वह किस प्रकार हमें अधिक लाभप्रद हो सकता है? हमारी जानोमाल की क्या सुव्यवस्था है? उसकी रक्षा का कौन सा उत्तम साधन है? हमारी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की क्या स्थिति है? यह कैसी और कहाँ तक होनी चाहिए। हम कहाँ तक अपने भाषणों और लेखों में स्वतन्त्र हैं और कहाँ तक रहना चाहिए? हमारी समाजिक परिस्थिति क्या और कैसी है, और किस प्रकार हमारी महत्वाकाक्षाओं को पूर्ण और सफल कर सकती है? हमें देश-विदेश में जाना

है। वहाँ हमारे लिए कितनी और कैसी सुविधाएँ प्राप्त हैं और किस प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, तथा उनके निराकरण का क्या उपाय हो सकेगा! हम सभा सुसायटियों में जाते हैं, दरबारों और पार्टियों में निमन्त्रित होते है, पर वहाँ हमारे वेश, भाषा का कितना और कैसा स्वागत होता है? हम एक विशेष मत और धर्म के अनुयायी हैं। हमें, अपने धर्म-विश्वास और तदनुसार उनके कार्य सम्पादन में कैसी और किस हद तक स्वतन्त्रता है? काउन्सिल और ऐसेम्बली में हमारे प्रवेश के लिए क्या और कैसी सुविधाएँ हैं और मताधिकार कहाँ तक हैं। न्याय और समानता हमें कहाँ तक प्राप्त है, और उनके सम्बन्ध में जो हमारा आदर्श है, उनके प्राप्त करने हमें कैसी सरलता और किस हद तक उचित या अनुचित कठनाई है, तथा उनकी यथेष्ट व्यवस्था करने में हम कहाँ तक सफल हो सकते हैं? स्वराज्य और साम्राज्य सम्बन्धी हमारे क्या कर्तव्य और अधिकार हैं। हमें उन में से इस समय तक कितना प्राप्त हुआ और कितना अभी शेष है?

यह और इसी प्रकार के समस्त अवश्यक और उपयोगी नियमों और क़ानूनों से प्रत्येक देशवासी और नागरिक को अच्छा और काफ़ी परिचय होना चाहिए, तभी लोगों से यह मिथ्या भय दूर होगा और इस भय से अनुचित लाभ उठाने का किसी को अवसर कम मिलेगा। देश में बेहद अविद्या-अन्धकार छाया हुआ है। इस जहालत और

अँधेरे में जो भी और जैसा भी अन्धेर और अत्याचार, कलह और क्लेश हो जाय, थोड़ा है। लोगों को उनके स्वत्व और अधिकारों का यथेष्ट ज्ञान कराना ही, उन्हें अभय प्रदान करना है, और यही इस समय एक महान् और परम दायित्व-पूर्ण कर्तव्य है; अन्यथा सभी देश-हितकारक घोषणाएँ व्यर्थ, स्थानीय स्वराज्य, ऐसेम्बली और काउन्सिलें इत्यादि ढकोसला मात्र! विविध प्रकार की अविद्या का नाश और सद् विद्या की वृद्धि करना ही प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है।

मैं ने जीवन के अनेक अभिनय देखे; और अब तक उन सारे अभिनयों से यही ज्ञात हुआ था कि जीवन वाह्य सौन्दर्य और पार्थिक आनन्द से परे नहीं; पर अब एक परिवर्तन हो गया है। अब तो वे भावनाएँ बदल गई हैं और मैं इस बात का विशुद्ध अनुभव कर रहा हूँ कि जीवन कर्तव्य से भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं। कर्तव्य ही जीवन है और जीवन कर्तव्य है। विश्व नियन्ता ने विश्व का निर्माण, उसकी स्थिति तथा अस्तित्व, सभी कुछ, कर्तव्य के आधार शिला पर ही स्थिर किया है। कर्तव्य ही विश्व का सौन्दर्य और प्राण है। कर्तव्य-विमूढ़ता पाप है और कर्तव्य-हीनता मृत्यु; जघन्य और प्रलय-कारी मृत्यु है। हा! महाराज दलीप और हरिश्चन्द्र, राम और भरत, शिवा और प्रताप की कर्तव्य-भूमि की वह पहिली सी कर्तव्य परायणता कहाँ गई? कहाँ वह उच्च आदर्श! कहाँ यह घोर पतन! उफ़! यह अकर्मण्यता! यह कर्तव्यहीनता!! शिव!! शिव!!!

———

दृढ़ता

"फेंको। तुम अपने तरकश का कोई तीर बाक़ी न छोड़ो। मैं उन सब को अपनी छातीपर ढाल के समान सहन करूँगा। आर्यवीर रणक्षेत्र में आकर फिर पीछे पाँव रखना नहीं जानते।"

यह कहकर वह रणक्षेत्र में डट गया। एक, दो, तीन—वार पर वार हुए। तीर पर तीर उस पर टूटे। पहले एक एक सामने आया, फिर सब ने एकदम धावा बोल दिया। बाणों की वृष्टि होने लगी। वीरों की कड़क, हथियारों की झनझनाहट का तुमुल नाद आकाश में गूँजने लगा। पृथ्वी पर हाहाकार मच गया। रणकुशल योधाओं

को बहुत दिनों के बाद मानो आज ही अपना बुद्धि-चातुर्य और युद्ध–कौशल दिखाने का अवसर मिला था। इस घमसान युद्ध में अपना पराया पहचानना कठिन था। दर्शकों तक में व्याकुलता और आतुरता पैदा होगई थी।

आह! ग़रीब की ख़ैर नहीं। बुरी तरह घिरा है। कहाँ है? कौन बता सकता है? देखो, देखो, शायद वह है। हाँ वही है। वह देखो किस तेज़ी के साथ वह वैरियों के दल को छिन्न-भिन्न करते हुए आगे बढ़ता जारहा है। कैसा बाँका युद्ध करने वाला है। ईश्वर उस की रक्षा करे। कितना बहादुर साहसी और निडर है। उसके चेहरे पर ज़रा भी परेशानी नहीं, घबराहट नहीं, उदासी नहीं। इतने घोर युद्ध में भी वह किस साहस, किस दृढ़ता के साथ सब का सामना करता और बचता जा रहा है। यह मनुष्य है, या मनुष्य के रुप में कोई देवता।

इस युद्ध में यह आर्य वीर कई बार पराजित हुआ। पराजित हुआ, पर उसके उत्साह और साहस में रत्ती भर भी अन्तर नहीं आया। उसे अपने साथियों और घनिष्ट मित्रों ने धोखा दिया। उसके हृदय में कभी कभी व्याकुलता भी पैदा हुई। आपत्तियों के काले काले बादलों को अपने सर पर मँडराते हुए देख वह कभी चिन्तित भी हुआ, पर अपने कर्तव्य से कभी विमुख नहीं हुआ। उसने कहाः—

"मैं सफल मनोरथ भले ही न होऊँ, मुझे सत्य के

प्रायश्चित्त में जो भी और जैसा भी कष्ट या हानि सहनी पड़े, पर मुझे इसकी परवाह नहीं। सत्य की लड़ाई में, धर्मयुद्ध में अनीति नहीं होनी चाहिए। मैं ने कूट नीति, नीच विचार, और बुरे उद्देश रखना सीखा ही नहीं। मैं उस धर्म निष्ठा और वीर माता का पुत्र हूँ, जिसका तेज प्रचण्ड था, जिसका त्याग अपूर्व था, और जिसकी दृढ़ता विलक्षण थी। क्या मैं ऐसे माता का पुत्र होकर कोई जघन्य कार्य कर सकता हूं? किसी ओछे हथियार से काम ले सकता हूं। मेरे हाथ में वही धर्म का ब्रह्मास्त्र रहेगा और इसी से मेरी जीत होगी, होगी।

और हुआ भी ऐसा ही। वह अपने उद्देश पर दृढ़ रहा। लक्ष्य की ओर से उसकी दृष्टि न हटी और अन्ततः विजय भी उसी को प्राप्त हुई। यह कैसा युद्ध था?

यह राम और रावण की लड़ाई नहीं थी और न था यह कौरव और पाण्डवों का महाभारत युद्ध। पर हाँ, इसकी भयङ्करता, नीति कुटिलता, किसी से कम गम्भीर नहीं थी। बल्कि हाँ, इसमें यह एक और अपूर्व विलक्षणता थी कि एक ओर केवल सहने वाला और दूसरी ओर घोर आक्रमण करने वाले, दुख देने वाले, और सताने वाले। क्या यह सत्याग्रह था? नहीं। हम इसे आज कल की सत्याग्रह की लड़ाई भी कहने के लिए तैयार नहीं हैं। हाँ, हम इसे केवल उस धर्मयुद्ध का एक अंश और वह भी बहुत ही धुन्धला अंश कह सकते हैं।

यह लड़ाई थी सभा और सोसायटियों की। यह लड़ाई थी

संस्था और संस्था के मान्य कार्य-कर्ताओं तथा अधिकारियों की। एक ही सभा, एक ही संस्था और एक ही विचार तथा एक ही आदर्श रखने वालों और एक ही साथ उठने बैठने तथा खाने पीने वालों की पारस्परिक लड़ाई थी। धर्म-युद्ध माँस और लोहे के साथ नहीं होता। यह होता है पाशविक शक्ति का सत्य सिद्धान्तों के साथ, अविद्या अन्धकार का प्रकाश के साथ, त्याग का भोग के साथ, ज्ञान, बुद्धि, विवेक का मोह माया तथा जड़ता के साथ, धर्म प्रेम और सुनियम का अधर्म, द्वेष और अत्याचार के साथ। इस युद्ध में सम्मिलित होना तो शायद सभी मनुष्यों को कभी न कभी होता ही है, परन्तु किसी वीर पुरुष को ही इसका यथार्थ और यथेष्ट अनुभव होता है। मनुष्य जीवन के लिए, जीवित रहने के लिए और जीवन में विजयी बनने के लिए सभी को तत्पर और यत्नवान रहना चाहिए।

संसार युद्ध क्षेत्र है, यहाँ प्रत्येक को कुछ करना ही पड़ता है। बात-बात में, पग-पग पर, प्रत्येक कार्य में प्रत्येक अवस्था में—ध्यान में, विचार में, जप-तप में, मन में, अन्तःकरण में—हर जगह देवासुर संग्राम होना स्वाभाविक है। इससे बचना, इसको बचाना कठिन है। हमें लड़ने और लड़ने से पराजित होने या पराजित करने में अपमान या अभिमान न समझना और न करना चाहिए, बल्कि अपना कर्तव्य समझ कर कार्य-सम्पादन का यत्न करते रहना चाहिए। धैर्य और

धृति धर्म के लक्षण हैं। हमें इनका कभी परित्याग न करना चाहिए। हमें सदैव अपने लक्ष्य पर दृढ़ रहने की ज़रूरत है। दृढ़ता मनुष्य-चरित्र में वह आवश्यक वस्तु है, जिसके बिना मनुष्य मनुष्य नहीं बन सकता, नहीं रह सकता। गिर कर प्रत्येक बार उठ खड़े होने तथा मार्ग के पत्थरों से ठोकरें खाने पर उन्हीं को सीढ़ी बना कर चढ़ने में ही तो वीरता और बहादुरी है। हमारी सर्वोच्च कीर्ति कभी न गिरने में नहीं है; वरन् प्रत्येक बार गिर कर उठने पर निर्भर है। प्रेम का द्वेष पर, सत्य का असत्य पर, और त्याग का भोग पर विजय प्राप्त करना अनिवार्य्य है, परन्तु मनुष्य को अधीर न होना चाहिए।

दृढ़ता चरित्र का वह अंश है, जिसके द्वारा मनुष्य करोड़ों विघ्न-बाधाओं से युद्ध करता हुआ भी अन्ततः विजयी होता है और मृत्यु को छोड़कर कोई उसे पराजित नहीं कर सकता। दृढ़ और सदाचारी मनुष्य के सामने नीचता और जघन्य प्रकृति अदृश्य हो जाती है। दुर्बल, अस्थिर और चञ्चल मनुष्य किसी समय और अवसर पर साहसी बन सकता है पर दृढ़ता केवल बलवान मनुष्य के ही चरित्र का भाग है।

विवेक

'नहीं'

……में हिमालय की शिखर पर एक महात्मा की कुटी है। महात्मा जी स्वाध्याय में संलग्न हैं। एक ४०-४५ वर्ष का अधेड़ आदमी सामने आता है और हाथ जोड़कर विनय पूर्वक कहता है—"महाराज ! मैं……पुर से आया हूँ। मैंने आपको पत्र लिखा था। एक सप्ताह तक प्रतीक्षा करके अब मैं आप की शरण में आया हूँ। मुझे सन्यास की दीक्षा दीजिए। मैं आप से आध्यात्मिक उपदेश चाहता हूँ।"

महात्मा जी ने कुछ उत्तर न दिया।

"भगवन् ! मुझे क्या आज्ञा होती है ?"

इस बार महात्मा जीने उसे उपरोक्त 'नहीं' शब्द में उत्तर दिया।

उसने फिर पूछा, "भगवन् ! क्या मैं इस योग्य नहीं हूँ ?"

"तुम स्वयं विचार करो।"

"महाराज ! दया कीजिए, मैं बड़ी अभिलाषा और विश्वास से आया था। मुझे निराश न लौटाइए।"

वह कुछ देर चुप ठहरा रहा। पर जब उसे कुछ उत्तर न मिला तो उसने कहा, "बहुत अच्छा ! जैसी आप की आज्ञा ! मैं विचार करूँगा। परन्तु फिर कब तक मुझे आप की सेवा में आने की आज्ञा होती है ?"

"एक वर्ष बाद।"

वह प्रणाम कह कर वहाँ से अपने घर लौट आया।

× × ×

"मैं स्वामी जी के पास गया था। पर उन्होंने दीक्षा नहीं दी।"

"क्यों, क्या कहा ?"

"कुछ कारण नहीं बतलाया, हाँ सिर्फ़ इतना कहा, तुम स्वयं विचार करो।"

"तुम एक दम गृहस्थ से सन्यास लेना चाहते हो। तुम्हें अभी वानप्रस्थ में रह कर कुछ समय तक नियमित रूप से स्वाध्याय और जप-तप में तन्मय रहना चाहिए। गृहस्थाश्रम

के उपरान्त २५ वर्ष वानप्रस्थ के लिए नियत हैं। सो इतना समय न सही, तो कम से कम जितने वर्ष गृहस्थ में रहे हो, उतने महीने तक तो इस आश्रम में रहना ही चाहिए। वानप्रस्थ, सन्यास की तैयारी का आश्रम है। यम-नियम का यथेष्ट पालन किए बिना सन्यास में जाकर भी कुछ विशेष कार्य न होगा। शायद, स्वामी जी ने इन्हीं विचारों को दृष्टि में रखकर तुम्हें अभी दीक्षा नहीं दी।"

"सम्भव है, यही बात हो। तो फिर क्या मुझे सपत्नीक वानप्रस्थ लेना चाहिए?"

"यह ज़रूरी नहीं है। यदि तुम्हारी स्त्री तुम्हारे साथ जाना चाहें और उन्हें भी गृहस्थ सुख से वैराग्य हो गया हो, तो कुछ हर्ज नहीं। अन्यथा उन्हें अपने पुत्र के पास घर में ही रहना अच्छा है।"

"ख़ैर, यह तो जैसा उचित होगा, किया ही जायगा। परन्तु यदि स्वामी जी दीक्षा दे देते तो अच्छा ही था। वानप्रस्थ में सन्यास जैसी स्वतन्त्रता नहीं है। गृहस्थियों की तरह बाल-बच्चों का झगड़ा-रगड़ा न भी हो, तो भी सन्ध्या अग्निहोत्र आदि का पचड़ा तो लगा ही रहेगा। मैं सन्यास लेकर एकदम इन सब प्रपञ्चों से मुक्त होना चाहता था।"

"तुम जब अपने कर्त्तव्य कर्मों को भी जब इस प्रकार प्रपञ्च समझते हो, तो सन्यास में जाकर सन्यास के और कर्त्तव्य कर्मों का कैसे पालन कर सकोगे? सन्ध्या अग्निहोत्र

क्या सन्यास में त्याज्य हैं ? कदाचित् तुम्हारी इन्हीं भावनाओं को समझ कर स्वामी जी ने तुम्हें टाल दिया है। आख़िर, महात्माओं में कुछ तो दिव्य दृष्टि होती ही है।"

"मैंने भी इस समय स्वामी जी की बात मान ली। अन्यथा दीक्षा तो मैं और किसी भी सन्यासी से ले सकता था। कितने ही सन्यासियों ने तो मुझे स्वयं प्रेरणा की थी। मैं कोई मूर्ख, अविद्वान् तो हूँ नहीं। जनता में मेरी काफ़ी प्रतिष्ठा है। सभा, सुसाइटियों का प्रधान भी रह चुका हूँ। पर यह सब भी कुछ न होता तो भी काशी प्रयाग आदि स्थानों के साधू महात्मा तो मुझे फ़ौरन ही दीक्षा दे देते। वे अधिक इस मामले में जाँच पड़ताल नहीं करते। मैंने कितने ही साधारण पढ़े-लिखे या बे-पढ़े जवान और लड़कों को साधू वैरागी बनते— बनाते देखा है।"

"यह तो ठीक है, पर अच्छे महात्मा लोग वहाँ भी ख़ूब देख-भाल कर ही शिष्य बनाते हैं। हाँ, जिनका शिष्य बनाना पेशा हो गया है और जो केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही चेला बनाते हैं, उनकी तो बात ही और है। पर हम उनके इस कार्य की प्रशंसा नहीं कर सकते। यह तो सोलह आना दुकानदारी और व्यापार ठहरा। आज इसी स्वार्थपरता और अविद्या-अन्धकार के कारण कितने ही साधू और वैरागी ऐसे देखे जाते हैं, जिन्हें कभी भूले भी साधू बनना और बनाना नहीं चाहिए था। ऐसे विवेकहीन कार्यों से

ही तो देश और जाति का सत्यानाश हो रहा है।

"सन्यास धर्म कोई साधारण धर्म नहीं है। यह बड़े त्याग, तप और संयम का धर्म है। इस में बिना पूर्ण और कठोर परीक्षा लिए हुए किसी को कभी दीक्षित नहीं करना चाहिए। छोटे बच्चों का साधू बनना-बनाना तो एक भारी नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक अपराध समझना चाहिए। आज देश में भगवें वस्त्रों का पहले जैसा आदर नहीं है। उसका यही तो कारण है, और यह बहुत घृणित और खेद-जनक कारण है। देश में लगभग साठ लाख साधू बतलाए जाते है। इन में अधिकतर ऐसे ही लोग हैं जो प्रायः गाँजा, भाँग, चरस, इत्यादि दुर्व्यसनों में लिप्त हैं और गृहस्थियों और दुनियादारों से कहीं अधिक पतित और भ्रष्ट हैं। ऐसे लोग क्या साधू कहलाने के अधिकारी है? ऐसों को 'साधू' कहना साधू शब्द को अपवित्र करना है। इन भले-मानसों का तो वाणी से भी सत्कार नहीं करना चाहिए!"

"भाई! क्या कहते हो? इन्हीं लोगो के तो पौबारा हैं।"

"हाँ, बनियों-महाजनों की मज़ेदार दावतें उड़ाना और उन से काफ़ी दक्षिणा-भेंट प्राप्त करना इन्ही लोगों का सौभाग्य है। मूर्ख मण्डलों में अभी इन धूर्त मुसटण्डों के लिए काफ़ी सम्मान के भाव मौजूद हैं।"

"मूर्ख ही नहीं, कितने पढ़े-लिखे वकील-बैरिस्टर, वैद्य डाक्टर, राजा-बाबू तक इनके जाल में फँस जाते हैं। और

औरतों का तो कहना ही क्या है? वह तो इन की शिकार होती ही हैं। उन्हें कोई कितना की समझाए-बुझाए, पर इन पाखण्डियों से उनकी श्रद्धा नहीं हटती। और फिर होता भी इन्हीं का अधिक सत्यानाश है। बाल-बच्चे इत्यादि प्राप्त करने के लिए इन्ही को 'बाबा जी' की विभूति की ज़्यादह ज़रूरत होती है। आर्यसमाज ने इस सम्बन्ध में भी लोगों में कुछ जागृति फैलाई है, पर घोर अन्धकार तो मिटते ही मिटते मिटेगा।"

"हाँ, यह तो ठीक ही है। आर्यसमाज ने हिन्दू जाति के सामने सभी तरह के आदर्श रखे हैं। आर्य सन्यासियों में इस समय ऐसे ऐसे महात्मा भी हैं, जो वस्तुतः त्याग-वैराग्य, ध्यान-योग, विद्या और संयम आदि सभी बातों में आदर्श रूप हैं। रहा देश और जाति की सेवा करना, और समय आने पर उस पर मिट जाना, यह तो प्रायः सभी आर्य सन्यासियों से आशा रखनी चाहिए; सेवा करना तो इनका स्वभाव और व्यसन है। ये लोग तो निकम्मे बैठना जानते ही नहीं।"

(मुस्कराकर) "तभी तो इन बेचारे आर्य सन्यासियों को इन मुसटण्डे साधुओं के सामने कोई नहीं पूछता।"

"अजी, दुनियाँ में आडम्बर की पूजा होती है। जिन्हें यह करना आता है, उन्हें कभी कोई कमी नहीं रहती। परन्तु यह कार्य स्थिर नहीं होता। क़लई खुल जाने पर बड़ी दुर्दशा होती है। आर्य सन्यासी पढ़े लिखे और विचारवान होते हैं। वह किसी प्रकार का आडम्बर रच कर अपनी प्रतिष्ठाया

स्वार्थ सिद्धि नहीं करना चाहते और न उन्हें करना ही चाहिए! यह आदर-सत्कार, भाव-प्रतिष्ठा केवल लोगों के अविवेक-बुद्धि और अज्ञान का कारण है। विवेक हीन पुण्य भी, पाप के समान, इस लोक और परलोक में दुखदायी होता है। हमें सब काम विवेक पूर्वक करना चाहिए और उचित वस्तु को उचित स्थान में रखने-रखाने में सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।"

विवेक, सुख और शान्ति की जननी है।

अमृत

म सब नागरिक हो। नागरिक होने का तुम्हें अधिकार है। पर तुम्हें यह भी मालूम है कि तुम्हारे कर्तव्य क्या हैं? अधिकार केवल अभिमान करने के लिए नहीं होता, बल्कि वह सेवा करने के लिए प्राप्त होता है। अधिकार स्वीकार करना, सेवा करने का व्रत लेना और प्रतिज्ञा करना है। जो लोग अधिकार लेते हैं, पर सेवा नहीं करते, वे पाप कमाते हैं, देश और जाति को दग़ा देते हैं। तुम्हें इन सब बातों का सदा ध्यान रखना चाहिए।

देखा, तुम यहाँ पर कैसे कैसे सुन्दर और साफ़ कपड़े

पहने बैठे हो। मालूम होता है, तुम्हें सफ़ाई से प्रेम है। बहुत अच्छा है। सफ़ाई और सुन्दरता बड़ी अमूल्य वस्तु है। हर जगह और हर बात में इसका ध्यान रक्खो। पर हाँ, यह सफ़ाई, यह पवित्रता केवल कपड़ों और दूसरों को दिखाने तक न रह जानी चाहिए, बल्कि तुम्हारे शरीर और मन भी साफ़ और शुद्ध रहने चाहिएं। शरीर से तरुण और स्वस्थ होना अच्छा है। पर हृदय से तरुण और स्वस्थ रहना और भी अच्छा है। महत्वाकांक्षी होना, और अच्छा आदर्श रखना उत्तम है, पर उनकी पूर्ति के लिए काम करना अत्युत्तम है। शिव सङ्कल्प रखना, भविष्य का शानदार स्वप्न देखना बुरा नहीं, जाति के लिए ऐसे लोग मुबारक हैं, पर चुपचाप स्वयं सेवा कार्य में लग जाना, और औरों को अपने साथ जुटा लेना भी क्या उससे कम है?

अपनी जननी जन्म भूमि के लिए प्रेम करना, समय पर उस पर निछावर हो जाना बड़ा अच्छा , पर अपने परिवार और पड़ोसी के साथ प्रेम करना, उनकी सेवा में निरत रहना भी कम अच्छा नहीं। इससे शायद तुम्हारी ख्याति बहुत व्यापक और विस्तृत न होगी, पर तुम्हें सुख शान्ति और मौन आशीर्वाद अधिक मिलेगा। सेवा के उपहार में ख्याति प्राप्त होती हैं, और उस की आशा और भोग में प्रायः लोगों को आनन्द मिलता है। तुम आदत डालो कि तुम्हें इसकी परवा न हो। तुम्हें अपनी प्रशंसा सुनने की चिन्ता न हो। ऐसे आत्म-समर्पण की ही

महिमा और महात्म्य है। जिस हृदय में प्रेम और नम्रता का संयम नहीं होता, वह प्रकृति की शक्तियों का सदुपयोग नहीं कर सकता। हृदय में निष्काम सेवा का पवित्र भाव होना चाहिए। जब तुम्हारे साथी कारण-अकारण किसी पारस्परिक लड़ाई-झगड़े में फँसे हों, तो तुम्हें उनके साथ अपना सम्बन्ध तथा अपनी भावना नहीं बिगाड़नी चाहिए; बल्कि उनको शान्त मार्ग का उपदेश देकर स्वयं किसी सुन्दर और सार्वजनिक हित के कार्य में अपना मन लगाना चाहिए। मनुष्य बहुत सी मुसीबत और बाधाओं को स्वयं मोल लेता है और दूसरों को दोषी ठहराता है। तुम्हें ऐसे अवसरों पर बहुत सावधान रहना चाहिए।

देश की सच्ची सेवा का सौभाग्य किसे मिलता है? उन्हें जो उसके लिए दुःख उठाते हैं और अन्त तक लगे रहते हैं। तुम्हें दुःख उठाने का अभ्यास रखना चाहिए। देश सेवा में कष्ट सहना ही तप कहलाता है। सरल काम करने में ही प्रसन्न न रहा करो। इससे तुम्हारी अनेक निहित शक्तियाँ अविकसित रह जाएँगी। तुम्हें कठिन कार्यों की खोज करनी चाहिए, और अपने तपोबल से उनको सरल बनाना चाहिए। रोज़ाना व्यवहार में आने वाली अनेक ऐसी छोटी छोटी बातें हैं, जिनकी ओर लोग प्रायः कम ध्यान देते हैं। तुम्हें उन पर सदा ध्यान देना चाहिए। जीवन की इन्हीं छोटी-छोटी बातों से ही तो हमारे बड़े बड़े कामों की सफलता और विशालता

प्रकट होती है। वह बातें देखने और सुनने में चाहे कैसी ही क्षुद्र और छोटी मालूम पड़ती हों पर चरित्र गठन में इनका बड़ा महत्व होता है, और सेवा के विशाल क्षेत्र में भी एक न एक दिन इनकी महत्ता प्रकट होकर ही रहती है। देश के बड़े-बड़े नेता कभी इन्ही छोटी २ बातों की परवाह न करने के कारण जनता की दृष्टि में एक दम गिर जाते हैं और फिर उन्हें इसके लिए बहुत पश्चाताप करना और दुख उठाना पड़ता है। जीवन की इन्हीं छोटी-छोटी बातों से ही मनुष्य के विशाल कार्य और विस्तृत सेवा का बीज अङ्कुरित होता है। तुम्हें अपने जीवन से अलग नहीं खड़ा होना चाहिए। कार्य की महत्ता उसकी सरलता में नहीं, उसकी कठिनाई में होती है।

× × ×

अपने मित्रों और पूज्य व्यक्तियों तथा प्रिय जनों की बातें सभी सुनते हैं, तुम अपने शत्रुओं और अपने से छोटों की भी सुना करो और उनका आदर करना सीखो। तुम्हारे व्यवहार की श्रेष्टता और आत्मा की उच्चता का यहीं यथेष्ट परिचय मिलेगा, पर इस में सात्विकता का भाव हो। अभिमान और बड़प्पन जताने का भाव नहीं। सेवा का मार्ग कठिन और काँटो से भरा है। कभी कभी इस में नासमझ और अनुदार लोगों से पाला पड़ेगा। उन से दुख, अशान्ति और अनादर मिलेगा और इन सबों के कारण तुम्हारे हृदय में निराशा और ग्लानि पैदा होगी। पर तुम्हें इन बातों की तनिक परवाह न करनी चाहिए। तुम ने किसी पुरस्कार के कारण

काम करना और तिरस्कार की वजह से काम छोड़ने का विचार करके तो अपना सेवा-कार्य आरम्भ ही नहीं किया था। तुम्हारी निष्काम दृष्टि थी। तुम इन सब बातों को हंसी-खुशी से पीजाओ। तुम्हें अपनी उदारता और साहिष्णुता का परिचय देने का यही उत्तम अवसर होगा। तुम्हारी आत्मा में बल आएगा। तुम्हारे शत्रु अपनी नादानी पर पछताएँगे, और तुम्हारे मित्र बनने में अपना गौरव समझेंगे।

× × ×

आज कल स्वतन्त्रता की बड़ी चर्चा है। हर एक मनुष्य स्वतन्त्रता का भूखा है। आबाल-वृद्धा, नर-नारी कोई पराधीन नहीं रहना चाहता। देश के सौभाग्य के लिए यह शुभ लक्षण हैं। पर स्वतन्त्रता है क्या वस्तु ? इसको खोज करने का कष्ट शायद सौ में पाँच भी नहीं उठाते। तुम स्वतन्त्रता को अपने जीवन का लक्ष बनाओ। पर उसे खोजो, और प्राप्त करो। राजनीतिक स्वधीनता भी एक प्रकार की स्वतन्त्रता है, पर यह मुक्ति नहीं है, यह सत्य स्वतन्त्रता नहीं है। सत्य स्वतन्त्रता किसी व्यक्ति या देश या जाति पर अधिकार जमाना नहीं, बल्कि मनुष्यों की सेवा करना है। राज, प्रजा की सेवा करने के लिए होता है। राजा प्रजा का सेवक है। पराधीनता में सेवा का कोई उत्तरदायित्व नहीं। स्वाधीन पुरुष ही सेवा का ज़िम्मेदार होता है। भारत माता के पुत्र कभी स्वतन्त्र थे। पर पीछे वे स्वतन्त्रता के इस अर्थ को भूल गए। देश सेवा की पुकार हुई। उन्होंने उत्तर न दिया और इस से भारत माता

का पतन हो गया और वे भी पराधीन हो गए। क्या भारत वर्ष फिर उठेगा?

× × ×

तुम्हें सेवा का व्रत धारण करना चाहिए। जो लोग अभी तैयार हैं, उन्हें जुट जाना चाहिए और जो तैयार नहीं हैं, उन्हे तैयारी शुरु कर देनी चाहिए। ईश्वर–पूजा धर्म तथा देश सेवा कोई भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं हैं। ये एक दूसरे से अलग नहीं हैं और हो भी नहीं सकते हैं। ईश्वर की पूजा भी तो जीवों की पूजा द्वारा ही होती है। इस पूजा में अन्याय और अयोग्यता से युद्ध करना होता है। अन्यायी, स्वेच्छाचारी का सामना करना, जात, पात, पंथ का विचार न करके सारी मनुष्य जाति के सब अधिकारों की रक्षा करना पड़ता है---वह भी त्याग और सेवा का आदर्श सम्मुख रख कर, कर्तव्य और और प्रेम के भावों से प्रेरित होकर।

प्रेम क्या चीज़ है? प्रेम! बड़ी भयानक चीज़ है। कोई भी वस्तु उस जैसी भयानक नहीं है। परन्तु फिर भी, इतने पर भी ईश्वर की सृष्टि में कोई भी ऐसा प्राणी न होगा, जो प्रेम न चाहता हो, प्रेम का भूखा न हो। क्या तुम उस प्रेम को जानते हो? हा! कोई अभागा ही होगा, जो प्रेम न जानता हो। प्रेम जैसे स्वर्गीय पदार्थ से अपरिचित प्राणी क्या कभी मनुष्य हो सकता है? मानव-हृदय का स्वामी या अधि-कारी भी बन सकता है? कौन जाने, वह क्या होता और क्या

बन सकता है, परन्तु वस्तुतः यह जानना कठिन है कि इस पापी संसार में कितने मनुष्य हैं, जो वास्तविक प्रेम, या प्रेम के स्वरूप को, जानते-पहिचानते तथा अनुभव करते हैं। प्रेम को विशुद्ध जानकर क्या किसी हृदय में फिर छल, कपट, अत्याचार, इत्यादि पापकर्मों के लिए कोई स्थान रह सकता है? कदापि नहीं। परन्तु हाय! इस प्रेम के नाम पर, प्रेम की आड़ में, प्रेम की दुहाई देकर, आज इस सभ्य जगत में जो कुछ, और जैसा कुछ हो रहा है, क्या उसे बतलाने की ज़रूरत है? हा! प्रेम बड़ा भयानक है—बड़ा घातक है। यह शिव के रूप में शैतान का काम करता है, कहो, क्या अब भी तुम्हें ऐसे प्रेम की ज़रूरत है?

हाँ, मैं प्रेम चाहता हूं। प्रेम तो मेरा प्राण और आत्मा है। मैं बिना प्रेम के रह नहीं, सकता—जी नहीं सकता। प्रेम मेरा जीवनाधार है, सर्वस्व है। परन्तु कैसा प्रेम? वह प्रेम नहीं, जो उपन्यासों में व्यक्त रहता है। वह प्रेम नहीं, जो स्वार्थ में, छल में, कपट में, पर निन्दा में, उपहास में, व्यङ्ग में छिपा रहता है। वह प्रेम नहीं, जो किसी कामना या वासना से उत्पन्न होता है। मैं तो नितांत निश्छल, निर्व्याज एवं निस्स्वार्थ तथा निष्कपट प्रेम चाहता हूँ।

मैं वह प्रेम चाहता हूँ जिसे कवि अपनी सुन्दर कविताओं में, चित्रकार अपने सुन्दर चित्रों में, भक्तजन अपनी भक्तभावनाओं में, सन्त-महात्मा अपने पवित्र जीवन के आदर्श द्वारा

दर्शाते हैं, और हाँ, वह शुद्ध प्रेम जो माता के दूध पिलाते समय उसके पवित्र हृदय में प्रवाहित होता है। मैं वह प्रेम चाहता हूं—वह जो अनायास ही किसी पशु के छौने को देख कर उत्पन्न होता है, वह, जो किसी भी अबोध वस्तु को देखकर लोह-चुम्बक की भाँति अन्योन्य आकर्षण उत्पन्न कर देता है। मैं उस प्रेम का इच्छुक हूँ, जिसे ईश्वर ने अपने समस्त पुत्रों के लिए अपनी पवित्र वाणी-वेदों में प्रकट किया है, वह प्रेम जिसे राम ने अपने पिता दशरथ की आज्ञा पालन में दिखाया है, वह जिसे कृष्ण ने अपनी गीता में अर्जुन के प्रति प्रकट किया है। और हाँ, मुझे उस प्रेम की इच्छा है जो आधुनिक काल के सब से बड़े ऋषि भगवान दयानन्द जी ने समस्त संसार, विशेषतया आर्य जाति के साथ किया है। क्या तुम्हारे पास ऐसा प्रेम है? यदि है तो मुझे उस प्रेम से कृतार्थ करो। मैं उसी प्रेम के लिए झोली डाले भिक्षुक बना हुआ घर घर अलख जगा रहा हूँ। वह प्रेम अमृत है, जीवन है, जीवन प्रदाता भगवान है। प्रेम ईश्वर है, ईश्वर प्रेम है।

पाठको! ....का उपदेश अमृत है, पर उसकी उपयोगीता व्यवहार में लाने से ही प्रतीत होगी।

——:*:——

तप
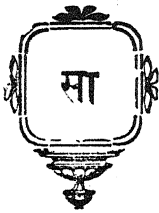
साहित्य अमूल्य पदार्थ है। साहित्य विकसित हृदय और मस्तिक की विचित्र तरङ्ग है। यह दूसरों के हृदयों और मस्तिष्कों पर जादू का असर डालने वाला है, वर्तमान मनुष्य समाज को सुमार्ग पर लाता है और आने वाली सन्तति, को सुपथ दर्शाता है। यही एक युग का अन्त कर, दूसरे का प्रवेश कराता है इसी के द्वारा हमें प्रकृति का महत्व और सृष्टि के सौन्दर्य का पता चलता और यही हमें हमारे प्रभु का सन्देश पहुँचाता, तथा हमें आत्म ज्ञान प्राप्त करने में सहायक होता है।

आर्य जाति के दैवी-दान प्राचीन साहित्य की महिमा

अपरम्पार है। हमारा बहुत सा साहित्य तो नष्ट हो गया है। पर यदि आज इतना भी शेष न होता तो हमारी वैदिक सभ्यता को कौन जानता? बैबिलोन, मिश्र, ऐसिरिया आदि की भांति भारतवर्ष की अवशेष स्मृतियां केवल इतिहास के सड़े-गले पन्नों में ही होतीं, पर हमारे हिन्दूत्व, हां, हमारे पवित्र आर्यत्व का पता भी न चलता।

आर्य जाति का प्राचीन साहित्य संसार के लिए एक दैवी दान था, था, नहीं, अब भी है। काश, वह साहित्य आज सम्पूर्ण रुप से विद्यमान होता, तो संसार का न जाने उस से कितना और कैसा उपकार होता। लेकिन फिर भी, इतने नष्ट किए जाने पर भी, जो कुछ शेष है, वह भी कम लाभप्रद और आदरास्पद नहीं है। एक हमारे लिए ही नहीं, संसार भर के लिए वह अभिमान की वस्तु है। दारा शिकोह और शोपनहार जैसे विद्वानों को हमारी ही उपनिषदों से शान्ति मिली, और हमारी ही गीता से आज भी आए दिन जिन आत्माओं को सुख और शान्ति प्राप्त होती रहती है, उनकी तो कोई संख्या ही नहीं बताई जा सकती। भारतवर्ष इसी वैदिक साहित्य की बदौलत अनन्त काल तक जगत गुरु और संसार का शिरोमणि रहा है। यहीं की विद्या नीति और सभ्यता जगन्मान्य रहीं, और संसार के समस्त देश-देशान्तरों से लोग यही शिक्षा गृहण करने आते रहे हैं।

हां, जिन ऋषियों, विद्वानों, पण्डितों और महान-आत्माओं

ने हमारे लिए यह अतुल सम्पत्ति छोड़ी है, हम उन में से बहुतों के नाम तक नहीं जानते। नहीं, हम जानते ही नहीं; उन्हों ने हमें जताना भी नहीं चाहा। अनेक ग्रंथकारों ने बड़े बड़े उच्च कोटि के ग्रंथ लिखे, परन्तु अपना नाम कहीं भी प्रकाशित नहीं किया। हां, कहीं-कहीं, किसी-किसी ग्रन्थ में किसी ने अपने गुरुओं आचार्य्यों, गुरुकुलों अथवा अपनी सम्बद्ध संस्थाओं या शाखाओं का संकेत भले ही कर दिया हो। आह! कैसी पवित्र और सात्विक भावना थी! तप, त्याग, और बलिदान का कैसा उच्च और विशुद्ध भाव था! उनकी साहित्य-सेवा का उद्देश नाम, ख्याति, व्यापार, धनोपार्जन आदि कोई स्वार्थयुक्त प्रयोजन नहीं होता था। वे इन सब विकारों से बहुत दूर—एकदम दूर होकर, देश, जाति और संसार के हितार्थ साहित्य सेवा करते थे, और समाज भी उन्हें समस्त सांसारिक चिन्ताओं से निश्चिन्त रखना अपना धर्म और कर्तव्य समझता था।

ये ब्राह्मण कौन हैं? आर्य संस्कृति में इन ब्राह्मणों को क्यों इतना उच्च स्थान दिया गया है? केवल इसीलिए कि प्राचीन समय में जहाँ ऋषि, महर्षि, विद्वान, महात्मा अपने तीसरे-चौथे आश्रम में तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए अपनी अमूल्य रचनाओं द्वारा साहित्य-सेवा करते थे, वहां गृहस्थी ब्राह्मण भी उन रचनाओं को कण्ठाग्र कर साहित्य की रक्षा करने से नहीं चूकते थे।

कहाँ हैं, वे पुरुष और देवियाँ जो इन शुद्ध और सात्विक भावनाओं से प्रेरित होकर साहित्य सेवा करते हैं? धर्म और देश पर न्योछावर होने वाली, गोली खाने वाली, दीवारों में चुनी जाने वाली, अपनी ज़िन्दा खाल खिंचवाने वाली, हँसते-खेलते सूली पर चढ़ जाने वाली—वीर आत्माएँ मुबारक हैं। पर साहित्य सेवा में संलग्न चुप-चाप, यश और कीर्ति से कोसों दूर—अज्ञात और तपस्या का जीवन स्वीकार करने वाले ज़िन्दा शहीद भी कम मुबारक नहीं हैं। साहित्य सेवा का कार्य कोई साधारण कार्य नहीं है। यह निरन्तर और घोर तप का कार्य है। साहित्य अनुष्ठान में, कठोर व्रत, भीषण प्रतिज्ञा, सात्विक वृत्ति, अतुल त्याग और ध्रुव तपस्या की ज़रूरत है। जिन देशों का साहित्य आज सभ्य संसार को चका-चौंध कर रहा है, उन्होंने आरम्भ में यह मंज़िल तय की है, जिसमें अनेक साहित्य सेवियों को भूखे मरना, क़र्ज़दार होकर मरना, अथवा उससे बढ़ कर बहुत समय तक दिन रात मुसीबत में जीवन बिताना पड़ा है। घर, परिवार, समाज से त्यक्त जिन व्यक्तियों ने विविध आपदाओं का सहर्ष स्वागत किया है, उनका हाल पढ़ कर आज दिन भी भूरि भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है, उनकी शताब्दियाँ मनायी जाती है। हम उनकी जन्मभूमि को अपना पवित्र तीर्थ, तथा दर्शन की जगह समझते हैं। परन्तु क्या हमारे भाई बहिनों में से कुछ भी उस कठोर मार्ग को तय करने के लिए तैयार हैं?

दीन, दरिद्र, पराधीन भारत को अपनी राजनैतिक, आर्थिक और वैज्ञानिक आदि विभिन्न प्रकार की उन्नति चाहिए, और उस के लिए उसे इन विषयों को उपयोगी साहित्य की आवश्यकता है। क्या कुछ वीरात्माएं प्राचीन ऋषियों की भाँति सात्विक भाव से इस महती आवश्यकता को पूरा करने के लिए आगे बढ़ेंगी? देखना खूब विचार कर लेना, एक बार नहीं, दो बार नहीं, सौ बार समझ-बूझ कर, 'हाँ' करना। काम घाटे का है, ख़तरे का है, जान जोखिम का है। पर जो भी हो, करना तो होगा ही। पर हाँ, दूसरे के बल-बूते, आशा और दिलासे पर नहीं। "हाँ-हाँ" और "वाह-वाह" पर भी नहीं, अपने निरन्तर तप और त्याग से; औरों को कष्ट देकर नहीं, स्वयं कष्ट उठा कर। धन्य है वह देश जहाँ ऐसी तपोनिष्ठ आत्माएँ यथेष्ट संख्या में हों। भारत माता पूछती है, कि उसकी इतनी सन्तान में से कितनी की गणना इस में हो सकती है?

यों तो सदैव ही कुछ आदमी क़लम का धन्धा करते हुए ग़रीबी और कष्टों का जीवन व्यतीत करते हैं और एक दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि उनका इस निमित्त बलिदान हो जाता है। परन्तु साधारण बलिदानों से साधारण ही फल होता है। साहित्य रूपी महादेवी की यथेष्ट सन्तुष्टि के लिए हमें अपने जीवन से भी अधिक प्रिय निर्माल्य और अधिक से अधिक मूल्यवान सिरों को समर्पित करना होगा। कठोर तप करना होगा।

सेवा

"मैं उसे कभी और किसी दशा में कलङ्कित न होने दूँगा। मुझे उस पर गर्व है। आदर्श सन्यासी दयानन्द के पवित्र बाने की लाज रखना प्रत्येक आर्य सन्यासी अपना कर्तव्य समझता है। धर्म-वेदी पर सीस चढ़ाना हमारा सहज स्वभाव और साधारण कार्य है।"

संसार में धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य का कोई विवेक नहीं। हर एक अपने अपने मत और विचार का आचार्य और प्रचारक है। उसका मत कैसा ही हो, उसके विचार किसी प्रकार के हों, इस से बहस नहीं; उसके वाक्य में शक्ति,

उसकी बुद्धि में चमत्कार होना चाहिए, उसे कुछ न कुछ अनुयायी मिल ही जायेंगे, उसका उद्देश सफल हो जायगा। अर्थवाद का प्रचण्ड साम्राज्य है। बुद्धि और बल का प्रयोग अर्थ-सञ्चय और स्वार्थ सम्पादन में ही प्रायः अधिक और बुरी तरह होता है। लीडरी और नेतृत्व इसका सब से सरल और सर्वोत्तम साधन समझा जाता है। सभा-सोसाइटी का जन्म तो किसी पवित्र उद्देश से ही होता है, परन्तु फिर यह भी किसी वैयक्तिक स्वार्थ और सामाजिक निर्बलता का शिकार होकर पथ-भ्रष्ट हो जाती है। पञ्चायती काम पञ्चायती ही होता है। यह किसी विशेष व्यक्ति की सम्पत्ति न होकर सभी की और सभी की होकर वस्तुतः किसी की भी नहीं होती सभा आदि जीवन तथा भाग्य निर्माण एक दूसरे के आए दिन के अनुभव-प्राप्ति और परीक्षण में ही सदैव अस्थिर बना रहता है। प्रजा तन्त्र शासन निस्सन्देह कहने सुनने में तो बड़ा सुन्दर और मनोरम है, परन्तु व्यवहार में प्रायः 'योग्यतम की विजय' का सिद्धान्त ही चलता है। 'जिसकी लाठी उसी की भैंस' का ही बोल बाला रहता है। कितना दुखान्त अभिनय है! कैसी करुण कहानी है! कितनी दयनीय दशा है!! क्या इसी 'प्रजातन्त्र' के आधार पर पवित्र संस्थाओं का भाग्य सुरक्षित रह सकेगा? सावधान! सावधान!!

शक्ति का उपयोग समाज को सुव्यवस्थित और निर्बलों को सुरक्षित रखने में ही है, परन्तु इसका प्रयोग बहुधा इस

उद्देश के विपरीत ही देखा जाता है। आजकल जो धन में बलवान है, वह धन-हीनों को, जो शरीर में बलवान है, वह दुर्बलों को, जो राज्य-बल में बलवान है, वह ग़रीबों को, जो विद्या में बलवान है, वह मूर्खों को गिराकर अपना आधिपत्य जमा रहे हैं। क्यों? क्या कारण है? कारण है, समाज की शिथिलता, अव्यवस्था और आदर्श-हीनता। समाज में पूर्ण अराजकता विद्यमान् है। इस समय--ऐसी परिस्थिति में जो जैसा चाहता है, कर गुज़रता है। हाँ, उस में दलबन्दी की योग्यता होनी चाहिए; उसे इधर-उधर को मिला कर बातें करनी आती हों, वह ढोङ्ग और आडम्बर रचने में कुशल हो, वह सलीक़े और ढङ्ग से अपना मतलब प्रकट कर सकता हो, फिर वह सब कुछ कर और करा सकता है। प्रेम, सत्य, न्याय, धर्म आदि सुन्दर शब्दों में सार्वजनिक महत्ता और आकर्षण मौजूद ही है, वह इनके नाम और रूप में, इनकी दुहाई और पवित्र आवरण में अपना काम भली भाँति चला सकता है। देश में निर्लज्ज भिक्षुकों और दीन-हीन अपाहजों की संख्या कितनी ही अधिक और असह्य हो, परन्तु इन चतुर देश भक्तों और त्यागी मठाधीशों की झोली खाली नहीं रह सकती। देश की भोली जनता के विश्वास और सद्भाव का यह दुरुपयोग! दुखी और आर्त प्रजा की गाढ़ी कमाई का यह अपव्यय! हरे! हरे!! क्या इन्हीं सभा-सोसाइटियों, और ऐसी ही संस्थाओं से भारत का कल्याण हो

सकेगा? क्या ऐसे ही देश भक्तों और महात्माओं से समाज का उद्धार होगा? किसी विद्वान के शब्दों में कहना होगा 'मुझे इन मित्रों और शुभ चिन्तकों से बचाओ।' देश का भला; समाज का हित ऐसे स्वार्थ-परायण महानुभावों से असम्भव है। इस कार्य के लिए सच्चे व्यवस्थापकों, निडर और निर्लोभी उपदेशकों और आप्त पुरुषों की आवश्यकता है।

यह साधू-महात्मा कौन थे; क्या थे, और इनका क्या कार्य था? जिस समय समाज में वर्णाश्रम धर्म की प्रणाली पूर्णतया प्रचलित थी, प्रत्येक मनुष्य अपने अपने धर्मानुसार व्यवहार करता था। और, यह साधू-सन्यासी जहाँ जनता को उनके धर्म-कर्म में यथेष्ट निष्ठा रखने और ज्ञान वृद्धि करने में सर्व प्रकार से सहायक होते, वहाँ उनकी उपेक्षा-बुद्धि और पथ-भ्रष्टता पर आँख भी दिखाने में सङ्कोच न करते थे। इस नियन्त्रण से समाज में श्रद्धा और आतङ्क-दोनों समान रूप से बने रहते और समाज का काम नियमानुसार सुचारु रूप से चला जाता था। समाज को सुदृढ़ और सुव्यवस्थित रखने का भार और पूर्ण दायित्व इन्हीं महात्माओं पर रहता था। हर एक इनकी आज्ञा पालन करना अपना कर्तव्य समझता था। यह सर्व मान्य थे। राजा से लेकर रङ्क तक, ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक, सभी को इनका यथोचित आदर-सत्कार, मान-प्रतिष्ठा करनी पड़ती थी। इनके मुख से निकले हुए शब्द प्रमाण समझे जाते थे। राजाओं-महाराजाओं के न्याय की

अपील इन्हीं के पवित्र दरबार में पेश होती थी और इनका किया हुआ निर्णय सर्व मान्य और अन्तिम होता था। हर एक राजा को इनका कृपा पात्र बने रहने और इनकी कोप-दृष्टि से बचाने की सदा चिन्ता रहती थी। और यह भी अपने को देश और जाति के सङ्कट के अवसर पर अपना सिर देने और बलि चढ़ाने में सब से पहिले अग्रगामी होते थे। यह अपने को देश का सेवक समझते थे और देश इन्हें अपना स्वामी कहता था। इनका त्याग और संयम, इनकी परोपकार-वृत्ति एवं सेवा भाव, इनका तप तथा सदाचार समाज के लिए आदर्श होता था। पर हाय! आज वह प्राचीन आदर्श लुप्त प्राय हो गया है। हाँ, उनके नाम और भेष से कमा खाने वाले साधु महात्माओं की कमी नहीं है।

नहीं, यह बात एक दम सत्य नहीं है। संसार से किसी वस्तु का बिल्कुल सर्वनाश नहीं होता। हाँ, कमी-बेशी न्यूनता-अधिकता ज़रूर होती रहती है। इस समय साधारणतया अच्छे महात्मा बहुत कम दृष्टिगोचर होते हैं; परन्तु इसका यह अर्थ कभी नहीं हो सकता कि इनका एक दम अभाव हो गया है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानन्द, स्वामी विरजानन्द स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द प्रभृति पूज्य सन्यासी इस समय संसार में नहीं हैं; परन्तु ये अभी-ईसी आधुनिक काल में ही, गत शताब्दी के अन्त तक विद्यमान थे और इन महान् पुरुषों के पवित्र शरीर से देश और समाज का जैसा

कुछ उपकार हुआ है, उसे प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है। निस्सन्देह अन्य आश्रमों की भाँति सन्यास आश्रम की भी पहली से उन्नत और सन्तोष जनक अवस्था नहीं है; परन्तु फिर भी इस असहाय और दयनीय अवस्था में भी–इस में से देश और समाज के लिए सच्चे सेवक और सुयोग्य कार्यकर्त्ता मिल ही जाते हैं। और वह दिन दूर नहीं है जब आर्यसमाज के पवित्र उद्योग से यह आश्रम भी पुनर्जीवित होकर अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त हो जायगा। हमें इस समय केवल अपने कर्त्तव्य पालन पर ध्यान रखना चाहिए। साधू-सेवा गृहस्थ का प्रधान कर्तव्य है। अतिथि-सत्कार पञ्च महा यज्ञों में एक अत्यावश्यक और अनिवार्य यज्ञ है। सच्चे साधुओं और सन्यासियों का यथोचित सत्कार न करने पर समाज को कम भयानक हानि और क्षति नहीं उठानी पड़ती। निस्सन्देह सच्चे महात्मा किसी विशेष सत्कार और मान प्रतिष्ठा के भूखे नहीं होते, परन्तु क्या हमें स्वयं अपनी ओर से उनके जीवन की साधारण आवश्यकताओं को भी पूर्ण नहीं करना चाहिये? स्मरण रहे जब तक संसार को सुख और शान्ति की आवश्यकता है, प्रेम और सेवा की ज़रूरत है तब तक त्याग और बलिदान की भी आवश्यकता रहेगी और तभी तक वैदिक सभ्यता के परम पुनीत चतुर्थ आश्रम धर्म की भी आवश्यकता रहेगी। देश और जाति पर निछावर होने वाले निर्भीक, निर्लोभी और सर्व हितकारी सन्यासियों की कहाँ और कब आवश्यकता नहीं है?

प्रेम-सन्देश

"यह तो शुद्ध ही हैं। इन्होंने क़लमा नहीं पढ़ा। मोहम्मद साहब पर ईमान नहीं लाए। माँस नहीं खाया। ख़तना नहीं कराया। मुसलमानों के साथ खाया नहीं। फिर इनकी शुद्धि की ज़रूरत ही क्या है? आप ख़ामोख़ाह भ्रम में न पड़ें। इनके लिए शुद्धि बिलकुल अनावश्यक है।

"मन्त्री जी, यह भी आपने खूब कही! क्या मुसलमानों के हाथों, उनके बरतनों के पानी और अन्य सामग्रियों से बनी हुई मिठाई खाना कोई बात ही नहीं?"

"कुछ नहीं, इसी ······पुर में मुसलमान हलवाई बताशे

आदि मिठाई बनाते हैं और सब पण्डित-पुजारी खाते और देवताओं को चढ़ाते हैं, कोई भ्रष्ट या मुसलमान नहीं होता, और न कोई एक दूसरे पर—यहाँ ......पुर में और इस के बाहर ही आपत्ति मचाता है। अब इस सब ढकोसलेबाजी का ज़माना नहीं रहा। खाने-पीने से धर्म नहीं जाता। धर्म जाता है, कुमार्ग-गामी होने से, व्यभिचार करने से, अपनी स्वार्थ-सिद्धि और लम्पटता के कारण, किसी को सताने से। ईश्वर का सम्बन्ध हृदय से है, पेट से नहीं। इन्होंने तो भूल से अनजान में, मुसल्मान हलवाई की दूकान से केवल मिठाई खाई है। मैं तो कहता हूँ, मुझे ज़बरदस्ती या खुशी से कोई खिला ही दे अथवा मैं जान कर या भूल से स्वयं ही कुछ खालूँ—इससे मैं भ्रष्ट नहीं हो सकता। एक दिन या सारी उम्र, एक के साथ, या अनेक के साथ, प्रत्यक्ष में या परोक्ष में, कैसे ही खाता-पीता रहूँ, मैं विधर्मी नहीं बन सकता। हिन्दू-धर्म अमृत है, पारस है। यह सभी अवस्था में, सभी दशाओं में मनुष्य के लिए कल्याणकारी है। हमारे ऋषियों का धर्म कच्चा धागा नहीं है, जो साँस की हवा से टूट जाय।"

"महाराज! आप धन्य हैं। मुझे अब सब तरह से सन्तोष हो गया। आप ने मेरा भ्रम दूर कर दिया। मैं आप का यह उपकार कभी नहीं भूलूंगा। आर्य समाज ने मरती हुई हिन्दू-जाति को मृत्यु के मुख से छुड़ा कर अभय दान दिया है, अन्यथा ईसाई-मुसलमान तो इसे कभी के निगल गए होते। पर

अब तो इन्हें रोज़े छोड़ उल्टी नमाज़ गले पड़ गई है। शुद्धि ने सभी के दाँत खट्टे कर दिए। अब आज्ञा दीजिए।……पुर आते जाते आप के दर्शनों से कृतार्थ होने का सौभाग्य प्राप्त करता रहूँगा।"

"आप गोस्वामी जी की शुद्धि कर लेते तो इसका अच्छा ही प्रभाव पड़ता।"

"अजी, यह फ़ुज़ूल सी बात थी। शुद्धि का प्रभाव अब बड़ा ही व्यापक होगया है। मैं तो समझता हूँ कि अब वह समय शीघ्र ही आने वाला है, जब आप को श्री शङ्कराचार्य्य जी की तरह, केवल शङ्ख-ध्वनि के पुण्य-प्रसाद से शुद्धि करना पड़ेगा! यज्ञ करने-कराने, उपवास रखने-रखाने, सर मुँडवाने की भी ज़रूरत नहीं रहेगी। केवल वैदिक धर्म की महत्ता स्वीकार करना ही हिन्दुत्व की दीक्षा समझी जायगी।"

"बेशक! यह तो होना ही है। स्मृतियाँ समयानुसार बनीं और आगे भी बनेंगी। इन में उदारता होनी चाहिए। आज भी यदि भारत के बाहर यूरोप-अमेरिका आदि देशों में वहाँ के निवासियों को शुद्ध करना पड़े तो क्या वहाँ भी आप की यही शुद्धि-पद्धति चलेगी? मैं समझता हूँ, वहाँ के लोग और सब कुछ कर लेंगे, पर मुँडन करवाना वह कभी नहीं पसन्द करेंगे।"

"सिर मूँडना-मुँडवाना गौण वस्तु है। हमें शुद्ध होने वाले सज्जन का हृदय देखना चाहिए। शुद्धि का अर्थ है—आचार

विचार और संस्कार का बदलना, धार्मिक स्वतन्त्रता की रक्षा करना, भारत-भक्ति की दीक्षा देना! मुसलमान अपने को पहिले मुसलमान कहते हैं और पीछे हिन्दुस्तानी। ये भारत में रहते हुए भी अरब के शुष्क रेत से प्रेम करते हैं और खजूर के पेड़ों का स्वप्न देखते हैं। भारत का हिमालय और कश्मीर उन्हें प्यारा नहीं है। हमें शुद्धि के द्वारा उनमें वैदिक धर्म, भारत-वर्ष और आर्य सभ्यता के लिए अनुराग उत्पन्न करना है। शुद्धि किसी के लिए भी हानि की वस्तु नहीं है। इससे पारस्परिक मेल-मिलाप बढ़ेगा। यह प्रत्येक के लिए आर्य संस्कृति से यथेष्ट लाभ उठाने का अवसर प्रदान करती है। कितने ही उदार और विचारशील मुसलमान आज से शुद्धि को एक आसमानी बरकत समझते हैं। कहिए ······तुल्ला की शुद्धि का आप के पड़ोसी महन्तों और पुजारियों पर कैसा प्रभाव पड़ा?

"अब इसे आप क्या पूछते हैं? हिन्दू-हृदय में तो शुद्धि की उपयोगिता बैठ गई है। उस दिन उन लोगों पर तो ग़ज़ब का ही प्रभाव पड़ा। आपने देखा नहीं कई कट्टर हिन्दुओं और महन्त पुजारियों ने तो वहीं—उसी यज्ञ मण्डप के नीचे ही—उसी समय लड्डू खा लिया था।"

"अच्छा, मुसलमानों का क्या रङ्ग है?"

"उन्हें भी अब इससे भयभीत और अप्रसन्न नहीं होना चाहिए। शुद्धि से उनका भी भला है। आर्य-धर्म में जैसा स्वा-तन्त्र्य है, वह उनके मज़हब में नहीं। धार्मिक स्वतन्त्रता प्रत्येक

मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है। यह हर एक को मिलनी चाहिए।"

"जी हाँ, ! पर मुसलमानी तहज़ीब में तो एक दम इसके विपरीत है। वहाँ तो एक बार मुसल्मान होकर फिर यदि उससे मुनकिर हो जाय तो उसे उनके क़ानून के मुताबिक़ क़तल की सज़ा मिलनी चाहिए। किसी-किसी मुसलमान देश में तो "मुरतिद" को यही सज़ा दी जाती है।"

"यह तो सरासर ज़ुल्म और अन्याय की बात ठहरी। पर अब यह कठोरता बहुत दिनों तक नहीं रहेगी और नहीं रह सकती। उदार और विचारशील मुसलमानों को—यदि आज नहीं तो कल, यह बात खटकेगी और उन्हें आर्य संस्कृति और वैदिक-धर्म की ख़ूबियों के साथ-साथ शुद्धि के पक्ष में यह एक और प्रबल कारण मिलेगा। मनुष्य विचार-स्वातन्त्र्य से ही मनुष्य है और मनुष्य समझा जा सकता है। जिस मत में विचार की स्वतन्त्रता नहीं, उसमें मनुष्य को आनन्द ही क्या आ सकता है? यह तो ईश्वर के घर में भी ज़बरदस्ती और धींगाधींगी का मामला हुआ। तुमने देखा नहीं, ········बेगम जब से '······देवी' हुई हैं, वह कितना सुख और शान्ति अनुभव कर रही हैं? यह स्वतन्त्रता उन्हें बेगम रहते हुए कहां प्राप्त थी?"

"हाँ, यह सुख और सान्त्वना तो देवियों के भाग में ही होती है। मुसलमान ख़ातूनों तक अभी आर्य समाज का सन्देश

पहुँचा ही नहीं है, अन्यथा इस स्वतन्त्रता के युग में कौन स्वतन्त्र होना नहीं चाहेगा ?"

"निस्सन्देह, बात तो यही है। आर्य्य समाज की शक्ति प्रचार की अपेक्षा अन्य बातों की ओर अधिक व्यय हुई और होती जा रही है। काश, वैदिक-धर्म प्रचार ही उसका एक मात्र ध्येय होता और वह अन्य संस्थाओं में इतना व्यस्थ न होता।"

"हाँ, संस्थाओं का रोग तो उसके पीछे बहुत बेढब लग गया है, पर जो भी हो, बन्धुवर ! मैं इस समय जो बातें आप से कहता हूँ वह अटल हैं, और बिना हुए नहीं रहेंगी। ज़माना बदल रहा है। विचारों में क्रान्ति आगई है। प्रत्येक को—चाहे वह मुसलमान, ईसाई, हिन्दू, अहिन्दू, स्त्री या पुरुष कोई हो—स्वतन्त्रता चाहिए। स्वतन्त्रता की माँग, स्वतन्त्रता की भूख सब को है। जिस धर्म में स्वतन्त्रता नहीं होगी, वह धर्म नहीं रहेगा। जिस धर्म के नाम पर सहस्रों वर्ष तक लड़ाई झगड़े होते रहे खून की नदियाँ बह गईं वह धर्म अब आगे नहीं रहेगा। जो मज़हब खून का प्यासा है और, जिसकी हत्यारी प्यास बिना ताज़ा रक्त पिये नहीं बुझती, वह धर्म नहीं, ढकोसला है। स्वार्थी लोग इस ढकोसले को धारण कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। कोई भी सच्चा धर्म रुधिर नहीं चाहता, धर्म चाहता है प्रेम, शुद्ध सात्विक और अमर प्रेम !!"

"शुद्धि उसी प्रेम-धर्म की परिचालिका है। वह यही प्रेम-

सन्देश लेकर पहिले भी शिवाजी महाराज के समय में बिछुड़े हुए मनुष्यों को गले लगाने के लिए आई थी और अब फिर इस समय उपस्थित हुई है। यह सदा से है और सदा रहेगी। वैज्ञानिक ग्रन्थों में, शास्त्रों में, स्मृतियों में और सन्तों के रचे हुए प्राकृत ग्रन्थों में उसकी शुभ और आशामयी उपस्थिति अंकित है।"

× × ×

दुनिया जड़वाद के स्वार्थ और अन्याय-पूर्ण सिद्धान्तों से अत्यन्त दुखी और अशान्त है। उसे वैदिक धर्म की सुन्दर, पवित्र और स्नेह-पूर्ण गोद में ही शान्ति प्राप्त हो सकती है। क्या कोई बाँका वीर यह प्रेम-सन्देश पहुँचाने का कष्ट उठाएगा?

यह पुस्तक मध्य प्रान्त के स्कूलों में पारितोषिक के लिये, तथा गवालियर और बड़ौदा में पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत है ।

"...हमें आशा है कि विद्यार्थी वर्ग व अन्य साहित्य प्रेमी इस से अवश्य लाभ उठावेंगे और लेखक के परिश्रम को सफल करेंगे" ।

— अध्यापक ।

३—भारतीय राष्ट्र निर्माण—Indian Nation Building.

राष्ट्र किस प्रकार बनते हैं, भारतवर्ष के सुदृढ़, सुयोग्य तथा महान राष्ट्र बनने के क्या क्या साधन हैं, इन बातों को जानने, तथा संगठन और हिंदू मुस्लिम प्रश्न, आदि विषयों पर गम्भीरता पूवक विचार करना हो तो इस पुस्तक का मनन कीजिये । दूसरा संस्करण । मूल्य चौदह आने ।

"...पिछली दो पुस्तकों की भांति यह भी अपने ढग की अनूठी है, अपूर्व है, और संग्राह्य है" । — चित्रमय जगत ।

४—भावना ।

इस पुस्तक के स्वाध्याय से पाठकों को अपना हृदय टटोलने की, अपने जीवन को अधिक शुद्ध और सात्विक बनाने की, और स्वयं दूसरों के अभिमान की वस्तु बनने की सामग्री मिलेगी । धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और साहित्यिक सभी प्रकार के विचार पढ़ते ही बनते हैं । मूल्य चौदह आना ।

५—सरल भारतीय शासन ।

यह पुस्तक माध्यमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों तथा साधारण योग्यता वाले पाठकों के लिये लिखी गयी है । इसमें भारतवर्ष की शासन पद्धति के मुख्य मुख्य विषय ज़िला मेजिस्ट्रेट, गवर्नर, वाइसराय और भारत मंत्री आदि के कार्य बहुत सरल भाषा में समझाये गये हैं । स्थानीय स्वराज्य और नागरिकों के कर्तव्यों पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है । मूल्य केवल आठ आने ।

६–भारतीय जागृति ७–देशभक्त दामोदर (समाप्त)

८–भारतीय चिन्तन ।

इस पुस्तक में राजनैतिक, अन्तर्राष्ट्रीय, सामाजिक, धार्मिक, विविध प्रकार के विषयों का विवेचन है। इसके कुछ लेख ये हैं:–प्रेम का शासन, साम्राज्यों का जीवन मरण, प्यारी मा, स्वराज्य का मूल्य, मेरे ३० मिनट, राजनैतिक भूल भुलैया, तीर्थों में आत्मिक पतन, धर्म युद्ध, राष्ट्र की वेदी पर, मौत की तय्यारी, आदि। मूल्य चौदह आने।

"...भारतीयों के किसी अंग को भी न छोड़कर, हर एक विषय को खूब खोला है। कहीं कहीं काव्य का मज़ा मिलता है। —महारथी।

"...बड़े ही भाव पूर्ण शब्दों में भारत को हित चिन्तना की है।"

—अध्यापक।

९–भारतीय राजस्व–Indian Finance.

टैक्स क्यों, और किस हिसाब से दिये जाते हैं, भारतवर्ष में सरकार प्रति वर्ष दो सौ करोड़ रुपये से अधिक किन किन करों से वसूल करती है, और इस रक़म को किन किन कामों में ख़र्च करती है, इसमें क्या सुधार होना चाहिये, इन प्रश्नों पर विचार करने के लिये इस पुस्तक को ध्यान पूर्वक अवलोकन कीजिये। मूल्य चौदह आने।

यह पुस्तक संयुक्त प्रान्त और गवालियर राज्य के पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत है, और हिंदी साहित्य सम्मेलन की पाठ विधि में सम्मिलित है।

"...भारत की निर्धन दशा में ऐसी पुस्तकों का धर्म ग्रन्थों के समान आदर होना चाहिये। मूल्य बहुत कम है।" —बर्मा समाचार।

इस पुस्तक के अध्ययन से व्यवस्थापक सभा में होने वाली वजट पर बहस आदि समझने की योग्यता प्राप्त होगी।

—प्रभात।

१०–निर्वाचन नियम–Election Guide.

इसमें भारतवर्ष की व्यवस्थापक सभाओं म्युनिसिपैलिटियों और ज़िला बोर्डों के चुनाव सम्बन्धी नियमों की विवेचना की गयी है। वोटर या मतदाता, और उम्मेदवार कौन कौन व्यक्ति होसकते हैं, मत किस प्रकार दिये जाते हैं, क्या सुधार होने चाहियें, सब बातें सरल भाषा में समझायी गयी हैं।

यह पुस्तक संयुक्त प्रान्त के ट्रैवलिंग, सरक्यूलेटिंग और मिडल बर्नाक्यूलर पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत है; और, हिन्दी साहित्य सम्मेलन की पाठविधि में भी सम्मिलित है।

"इसे प्रत्येक मतदाता को में पढ़ना चाहिये। यह 'मार्ग प्रदर्शक' का काम दे सकती है। इसकी एक प्रति अवश्य रखनी चाहिये।"

—सुधा।

११–वालब्रह्मचारिणी कुन्ती देवी।

देवी कुन्ती का जीवन विकट परिस्थितियों की अग्नि परीक्षा में उत्तीर्ण होकर खरे सोने की भांति चमक रहा है। आप इसे अपनी मां बहिनों, बहू बेटियों के हाथ में देकर उनके चरित्र उज्ज्वल बनाइये। पृष्ठ संख्या लगभग ढाईसौ। रंग बिरंगे १२ चित्र। मूल्य साधारण प्रति १॥) सजिल्द १॥।) और, बढ़िया आर्ट पेपर पर राज संस्करण ३) है।

यह पुस्तक मध्यप्रान्त और बरार के लड़के और लड़कियों के सब प्रकार के हिन्दी स्कूलों में पारितोषिक और पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत है, और गवालियर और धौलपुर रियासतों में कन्या पाठशालाओं के लिये मंगायी गयी है।

"...आपकी जीवनी आदर्श गृहस्थ, धर्म, तप, योग, वैराग्य और समाज सुधार आदि अनेकों विभूतियों की चित्रावली है।" —**महारथी.**

"....यह जीवन चरित अच्छे ढंग से एक ऐसे सज्जन का लिखा हुआ है, जो शुद्ध साहित्य के प्रचार के लिये हिंदी संसार में काफ़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके।

—आर्य मित्र.

१२–राजनीति शब्दावली।

इसमें राजनीति के एक हज़ार से अधिक हिन्दी–अंगरेज़ी तथा आठसौ से अधिक अंगरेज़ी–हिन्दी पर्यायवाची शब्दों का संग्रह है। मूल्य पांच आना।

"....शालाओं के विद्यार्थियों, भाषण कर्ताओं, और हिन्दी भाषी समाचार पत्र पाठकों तथा राजनैतिक संस्थाओं के कार्य कर्ताओं के काम की चीज़ है। ऐसे ठोस उद्योगों की हिंदी भाषा में बहुत आवश्यकता है।

— कर्मवीर।

१३–नागरिक शिक्षा–Elementary Civics.

मिडल और नार्मल स्कूलों और साधारण योग्यता वाले पाठकों के लिये यह पुस्तक विशेष रूप से उपयोगी है। इसमें सरकार के कार्यों सेना, पुलिस, न्याय, जेल, कृषि, उद्योग धंधे, शिक्षा, स्वास्थ आदि विषयों का सरल भाषा में विचार किया गया है। मूल्य ॥)

अन्य उपयोगी पुस्तकें।

हमारा प्राचीन गौरव	–)	भारतीय अर्थ शास्त्र प्रथम भाग	१॥)
भारतीय प्रार्थी	॥)	,, ,, द्वितीय भाग	१)
राजा महेन्द्र प्रताप	॥=)	कृषक दुर्दशा नाटक	॥=)
बदरी केदार यात्रा	।)	हिन्दी भाषा में अर्थ शास्त्र	–)
जमुना लहरी	≡)	हिन्दी भाषा में राजनीति	–)
अन्योक्ति तरंगिणी	।)	प्रेम पुष्पांजली	।–)

आठ आने प्रवेश फ़ीस भेजकर, स्थायी ग्राहक बनने वालों को सब पुस्तकें पौने मूल्य में।